श्री सुरेशसिंह प्राणिशास्त्र के अधिकारी लेखक माने जाते हैं जिन्होंने जीव-विज्ञान पर कई उपयोगी पुस्तकें लिख कर हिन्दी-जगत में अपना एक विशेष स्थान बना लिया है।

उन्होंने समय समय पर हास्यरस की कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं जिनका चारों ओर यथेष्ट स्वागत हुआ है और जिन्हें विद्वानों ने बहुत सराहा है।

प्रस्तुत पुस्तक उनकी पन्द्रह कहानियों का संग्रह है जो हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

आशा है लेखक के इस नवीन प्रयास को पाठकों के मनोरंजन करने में सफलता प्राप्त होगी।

असली मुर्गाछाप

सुरेशसिंह

राष्ट्रीय प्रकाशन मन्दिर
अमीनाबाद, लखनऊ
उत्तरप्रदेश

प्रकाशक तथा विक्रेता
राष्ट्रीय प्रकाशन मन्दिर
अमीनाबाद, लखनऊ, उत्तरप्रदेश

द्वितीय संस्करण
मूल्य

मुद्रक
नव भारत प्रेस
नादान महल रोड, लखनऊ

प्रिय प्रकाश,

जीवन के क्रिकेट में कब एल० बी० डब्लू० डिक्लेयर कर दिया जाऊंगा यह कोई नहीं कह सकता, क्योंकि अम्पायर ठहरे अल्ला मियाँ जो किसी से कम मसखरे नहीं हैं।

जीवन की गाड़ी इतने दिनों तक हम दोनों 'मारपीट' कर खींच लाये, इसी को गनीमत समझना चाहिए, लेकिन श्री चित्रगुप्त जी महाराज की आँखों में अब ज्यादा धूल झोंकना मुमकिन नहीं जान पड़ता।

मेरे न रहने पर ये कहानियाँ तुम्हारा जी बहलाने में कुछ न कुछ सहायक होंगी। इसी आशा से यह संग्रह तुम्हें समर्पित कर रहा हूँ। आशा है तुम इसे स्वीकार करोगी।

जनवरी १९५८ तुम्हारा,
कालाकांकर सुरेश

सूची

असली मुर्गाछाप

सुरेशसिंह

तेजभान सो रहे थे । जेठ की लपलपाती दोपहरी, दो दिन की थकान और सड़क पर की घनी अमराई ने उन्हें आगे न बढ़ने दिया । वे एक पेड़ के नीचे साइकिल लिटाकर और छाते को जमीन मे गाड़ कर गहरी नीद में सो गये थे ।

तेजभान बेचारे कल ही से बहुत परेशान थे । इतने उत्साह से उन्होंने सभा के लिए एलान किया था । लोगों को बड़े-बड़े नेताओं के आने की आशा दिलाई थी, लेकिन ऐन वक्त पर सब के सब न आये तो न आये । तेजभान खीझ और शरमिन्दगी के कारण सभा की ओर न जा सके । क्या उत्तर लोगों को देंगे ? कई बार तो उन्हें इसी प्रकार नेताओं के न आने से किसानों के आगे झूठा बनना पड़ा है । अब किस मुँह से उनके आगे सफ़ाई देंगे, उन्हें कुछ सूझ न पड़ा । वे इस बार खिन्न होकर शाम ही को एक ओर चल पड़े थे । कहाँ जायें, क्या करें, कुछ उनकी समझ ही में न

आता था। वे रात को एक गाँव में ठहर गये। दूसरे दिन से ही उन्हें अपना नया कार्य-क्रम तै करना था। इस हलके में तो अब उन्होंने काम न करने का करीब-करीब तै कर लिया था।

सबेरा होते ही उन्होंने अपने मकान की राह पकड़ी थी। दूसरे मंडल में जाने के पहिले वे एक बार घर हो लेना चाहते थे। घर कुछ ज्यादा दूर भी नहीं, सिर्फ बीस मील के फासले पर था। सोचा था कि धीरे-धीरे और रुकते-रुकते भी चलेंगे तो दोपहर तक पहुँच जावेंगे, लेकिन कई दिन की दौड़ा-धूप उनकी उखड़ी देह को थका डालने के लिए काफी थी। वे ग्राम के बाग की घनी छाया में थोड़ी देर आराम करने लेटे तो नींद आ गयी और जब आँख खुली तो दोपहर बीत चुका था।

यहाँ तेजभान का थोड़ा परिचय दे देना अनुचित न होगा। वे हलके के झोरिया नेता या कार्यकर्ता ही नहीं बल्कि परोपकारी जीव थे। परोपकार में उन्हें एक प्रकार का रस आता था और इसी रसास्वादन के लिए वे अपना घर-बार छोड़कर एक मुद्दत से देश की सेवा में लग गये थे।

यद्यपि यह सेवा उनके लिए काफी मँहगी पड़ती थी, लेकिन उनकी लगन ऐसी थी कि कोई उन्हें इस सकल्प से डिगा नहीं सकता था। कई बार आपस में गाली-गलौज़ हुई, कई बार हाथापाई की भी नौबत आयी लेकिन तेजभान सब कुछ सह कर भी उसी हलके में डटे रहे। लेकिन नेताओं की भी इस बार की वादाखिलाफ़ी उनके लिए असह्य हो गयी थी और यही कारण था कि वे दूसरे हलके में जाने की सोच चुके थे। फिर एक जगह को छोड़कर दूसरी जगह जाना उनके लिए कैसे मुश्किल होता जब एक संस्था को छोड़कर दूसरी संस्था में जाना उनके बाँए हाथ का खेल था। क्षत्रिय सभा, हिंदू सभा और आर्य समाज को छोड़कर वे अंत में कांग्रेस में आये थे और आजकल उसी में रहकर अपनी सेवा के कार्य-क्रम को पूरा कर रहे थे।

कांग्रेस आन्दोलन में जेल जाने पर जहाँ तेजभान ने टमाटर खाना, शीर्षासन करना और गीता पढ़ना सीख लिया था वहीं आर्यसमाजी रहने के समय की कुछ आदतें अब भी उनमें मौजूद थीं। सनलाइट साबुन से कपड़ा धोना, तर्क का अस्त्र चलाना और डायरी रखना उनकी नित्य क्रिया में शामिल थे। आर्य मुसाफ़िर डायरी उनके झोले में चौबीसों घंटे पड़ी रहती थी, भले ही उसमें दवाइयों के नुसखे ही क्यों न लिखे जाते हों।

लेकिन इन सब आदतों में वे अपनी डायरी को बहुत महत्व देते थे, क्योंकि उन्हें एक स्वामी जी ने बताया था कि किस प्रकार एक बार रेल में सफ़र करते समय उनका टिकट खो जाने पर उनकी श्री डायरी जी ने उनको साफ छुड़ा दिया था। श्री डायरी जी में टिकट का नम्बर स्वामी जी नोट किये हुए थे। इसी से उन्हें रेल कर्मचारियों ने छोड़ दिया था।

तभी से तेजभानु को भी डायरी और डायरी में नम्बर नोट करने की धुन सवार हुई। वे उसमें अपनी पूरी हुलिया तो नोट ही किए हुए थे साथ-ही-साथ यार दोस्तों का भी पूरा विवरण उसमें दर्ज था। तेजभानु रेल पर तो कभी सफर करते नहीं थे क्योंकि पैर गाड़ी या साइकिल ही उनकी रेलगाड़ी थी। इससे उन्होंने टिकट के नम्बर लिखने का शौक साइकिल का नम्बर लिखकर पूरा किया था। लेकिन इन सबके अलावा एक नम्बर जो उनकी डायरी के पहिले ही पृष्ठ पर मोटे अक्षरों में लिखा था, वह था—छाता असली मुर्गा छाप, नम्बर ७१५, दाम ढाई रुपये। यह थी उनके छाते की हुलिया, जिस पर असली मुर्गा छाप या ट्रेडमार्क बना था और जिसमें कि ट्रेडमार्क के ७१५ नम्बर को श्री तेजभान जी ने अपने छाते का सीरियल नम्बर समझ कर अपनी डायरी में लिख रखा था।

नींद टूटते ही तेजभान ने देखा कि सूरज बरगद के बड़े पेड़ के पीछे छिप जाने की तैयारी में है। दिन बीतने को आ गया लेकिन अभी आधा

रास्ता तै करने को बाकी पड़ा था। वे जल्दी से साइकिल उठा कर चल पड़े। पर दो-ढाई मील भी न गए होंगे कि उन्हें अपने छाते की याद आई। छाता तो वे पेड़ के नीचे ही भूल आए हैं। बड़ी आफत हुई, फिर लौटना पड़ा। फिर पता नहीं मिले न मिले। अभी ज्यादा पुराना भी नहीं हुआ था। लौटकर देखना तो पड़ेगा ही। लेकिन चलते समय न जाने क्यों दिखाई नहीं पड़ा। जैसे वहाँ था नहीं क्या? खैर अब तो सिवा लौटने के दूसरा उपाय भी नहीं है। यही सोचते हुए तेजभानु लौट पड़े।

धीरे-धीरे बाग नजदीक आने लगा और फिर वह पेड़ साफ दिखायी पड़ने लगा, जिसके नीचे उन्होंने दोपहरी निवारी थी, लेकिन छाते का कहीं पता नहीं। जमीन में छाते का निशान चुपचाप इनकी ओर जरूर देख रहा था। तेजभानु करते ही क्या? निराश होकर वे अपनी साइकिल पर बैठकर फिर मन मारे अपना सफर तै करने लगे।

वे अभी मुश्किल से चार-पाँच फर्लाङ्ग ही गये होंगे कि कोई चीज देखकर एकाएक चौंक पड़े। वह था उनका असली मुर्गाछाप नम्बर ७१५ वाला छाता, जिसके लिए वे इतनी दूर से लौटे थे। लेकिन बात कुछ ऐसी पड़ गयी थी कि वे अपने छाते को देखकर भी कुछ कह नहीं सकते थे। उनका छाता जो साहब हाथ में लिए हुए थे, वे एक मुरदे की अरथी में कंधा लगाए हुए थे।

तेजभानु के मन में छाते का मोह और साधारण लोक-व्यवहार का द्वन्द होने लगा। मुमकिन है यह छाता इसी आदमी का हो। एक तरह के छाते क्या कई नहीं होते? फिर इस दुख के समय भला कौन छाता चुरायेगा? इसी प्रकार के अनेक तर्क तेजभानु का मन सामने रखता था लेकिन छाते का मोह है कि उसके सामने कोई दलील नहीं चलती थी। तेजभानु ने सोचा अच्छा पहिले इसकी भलीभाँति जाँच कर ली जावेगी तब कुछ कहा जावेगा। वे साइकिल से उतर कर अरथी के साथ-साथ चलने लगे। थोड़ी देर बाद जब सब लोग एक पेड़ के नीचे आराम

करने को ठहरे तो उन्होंने बड़ी नम्रता से छाते वाले से पूछा, "भाई साहब यह छाता क्या आप ही का है।"

"और नहीं क्या तुम्हारा है।" छाते वाले ने बड़ी रुखाई से कहा, "तुमको कुछ सूझ नहीं पड़ता ?"

तेजभान जनता-जनार्दन की सेवा करने के कारण ऐसी रूखी बातें सुनने के आदी हो गये थे अतः वे जरा भी विचलित हुए बगैर बोले, "भाई साहब आप नाखुश क्यों होते हैं। मैं एक छाता उस पीछे वाली बाग में भूल आया था। मैंने समझा कि शायद आपने उसको पड़ा देखकर उठा लिया हो। इसमें गुस्सा होने की तो कोई बात नहीं है। अगर आप अपना छाता खोल करके मुझे दिखा देते तो मेरी भी दिल जमाई हो जाती।"

छाते वाले ने हुज्जत बढ़ाना ठीक न समझ कर तेजभान के आगे छाता बढ़ा कर कहा, "आप ही देखकर दिल-जमाई कर लीजिए।"

छाते वाले की बात से यद्यपि तेजभान को विश्वास हो गया था कि यह छाता उनका नहीं है, तो भी शरमाते शरमाते उन्होंने छाता खोल ही दिया। पर यह क्या ! यह तो उन्हीं का छाता निकला। वही ढाई रुपए का असली मुर्गा छाप वाला छाता। छाते पर चिरपरिचित मुर्गा जैसे उन्हीं की ओर देख रहा है। अचानक अपनी जीत पर तेजभान कुछ मुस्किराए और छाते वाले से बोले, "छाता तो भाई साहब यह मेरा ही निकला।" यह देखिए मेरी डायरी में इसका नम्बर और इसकी पूरा हुलिया। अब अपनी दिलजमाई आप कर लीजिए।" यह कहकर उन्होंने झोले से डायरी निकालकर छाते वाले सज्जन के सामने फेंक दी।

छाते वाले को अब गुस्सा आ गया। उसने डायरी की ओर निगाह भी नहीं उठाई और तेजभान के हाथ से छाता छीन कर अपने साथियों से बोला, "उठाओ भाई अरथी। ऐसे लोटाचोरों से पाला पड़ा है कि क्या

बतावें। चंदे से पेट नहीं भरता तो जान पड़ता है रास्ता चलतों को दिन दहाड़े ही लूट लेंगे, चोरकट कहीं के।"

तेजभान की ईमानदारी और देश सेवा दोनों पर प्रहार करके, राम नाम सत्य है कि घोषणा करती हुई, वह टोली फिर आगे बढ़ी।

तेजभान की डायरी में यदि असली मुर्गा छाप और नम्बर ७१५ न निकला होता तो वे उस छाते वाले से खुद माफी माँग कर कोई छोटा-मोटा प्रायश्चित कर डालते, पर इतनी अधिक ज्यादती उनके लिए असह्य हो उठी। उनका हृदय छाते से ज्यादा सत्य को साबित करने के लिए आतुर हो उठा।

वे कुछ दूर तक तो हाथ में साइकिल लिए पैदल ही चले फिर न जाने क्या सोचकर साइकिल पर बैठकर आगे के गाँव में तेजी से चले गये। यह गाँव सड़क के किनारे ही पर था। जहाँ जटायू जी नाम के एक सन् २१ के काँग्रेसी कार्यकर्ता कुटी बनाकर रहते थे। तेजभान का जटायू से और जटायू जी का गाँव वालों से काफी परिचय था। तेजभान ने पहले पहुँचकर उनसे अपने छाते का पूरा किस्सा बताया और फिर बड़ी उत्सुकता से वे अरथी की प्रतीक्षा करने लगे।

धीरे-धीरे अरथी भी आई और वे लोग लाश को गाँव की गहुआरी में रखकर सुस्ताने लगे। गाँव के लोग जो छाता छीनने आए थे, छाते वाले को देखकर सहम गये। वे पास के गाँव के एक ठाकुर थे जो अपनी चची की लाश लेकर गङ्गा किनारे जा रहे थे।

ठाकुर ने गाँव वालों के साथ तेजभान को देखकर कहा, "इनका सुना भइया! ये जो बिसतुइया ऐसे साइकिल लिए खड़े हैं? यहाँ तो ऐसे सूधा बने हैं कि जैसे कुछ जानते ही नहीं। अभी पीछे जो ऊसर पड़ता है वहीं हम लोगों के पीछे मौमाखी की तरह पड़ गये। जी को अटक गये कि यह हमारा छाता है। यही देश सेवा कर रहे हैं यहाँ।"

ठाकुर की बात सुनकर किसी को हिम्मत न पड़ी कि तेजभान की

ओर देखे, फिर बोलता कौन ? किसी के मुँह से कोई बात ही न निकली।

"रामनाम सत्य है सत्य बोलो मुक्त है" की आवाज से महुआरी गूँज उठी और अरथी फिर आगे बढ़ी।

लाश कुछ दूर चली गई तब कहीं जाकर तेजभान का कंठ फूटा, वे बोले, "वाह भाइयों वाह! धन्य हैं आप लोग। उसने बातों की रेलगाड़ी छोड़ दी और आप लोग हो गए सब के सब उसी की ओर, जैसे कोई बोलना ही नही जानता। अच्छा न्याय किया आप लोगों ने!" लेकिन जब प्रतिवादी ही मौजूद नहीं तो फिर फैसला किसका किया जावे। सब लोग चुपचाप अपने गांव की ओर लौट गए।

तेजभान को गाँव वालों से ऐसी आशा नहीं थी। उन्होंने जीवन में पहली बार "उलटा चोर कोतवाल को डाँटे" वाली कहावत को इस तरह चरितार्थ होते देखा था। सत्य की इस प्रकार हत्या होते देख कर उनकी आत्मा उन्हें धिक्कारने लगी। मारे खीझ के उन्होंने किसी की मदद लेना उचित न समझा और इस अन्याय के विरुद्ध स्वयं ही सत्याग्रह करने का निश्चय कर लिया। अधिक समय खोना व्यर्थ समझ कर वे फौरन साइकिल पर चढ़ कर ठाकुर साहब के पास जा पहुँचे जो उनका 'असली मुर्गी-छाप' वाला छाता लिए जा रहे थे।

अरथी के पास पहुँच कर तेजभान साइकिल से उतर कर उन लोगों के साथ पैदल चलने लगे। ठाकुर ने इन्हें फिर आया देखकर गुस्से से दूसरी ओर मुँह फेर लिया। और लोग भी इनको मुँह लगाना नही चाहते थे। इससे सब चुपचाप चले जा रहे थे।

तेजभान को यह खामोशी बहुत अखरी। थोड़ी दूर चलने के बाद जब उनसे न रहा गया तो उन्होंने ठाकुर साहब को संबोधित करके कहा—

"ठाकुर साहब ईश्वर हम सब की भलाई-बुराई को देखता है। उसके

कोई बात छिपी नहीं रह सकती। आपको एक तुच्छ छाते के लिए ईमान न खोना चाहिए। आपको तो दूसरे की वस्तु मिट्टी के ढेले के तुल्य समझना चाहिए। सच कहता हूँ, मिट्टी के ढेले के तुल्य।"

ठाकुर साहब ने इनको ज्यादा मुँह लगाना ठीक नहीं समझा, वे चुपचाप बिना कुछ बोले चलते गए।

तेजभान फिर बोले, "जान पड़ता है अब आपको पाश्चाताप हो रहा है। पश्चाताप क्यों न होगा? बात ही ऐसी है। आदमी को मरघट पर जाकर कहते हैं वैराग्य उत्पन्न होता है। फिर दूसरे की वस्तु से तो हमेशा ही वैराग्य होना चाहिए। देखिए आपने मुझे चोर बनाया, बेईमान कहा, पर मैंने किसी बात की परवाह न की। जानते हैं क्यों? इसलिए कि मैं जानता था कि मैं सत्य के मार्ग पर हूँ और यह छाता, जो इस समय आपके कर कमल में है, हमारा वही ढाई रुपये वाला नम्बर ७१५ का असली मुर्गा छाप छाता है। और इसको भाई साहब अब आप भी भली-भाँति जान गए हैं। यही नहीं इस समय आप यह भी सोच रहे हैं कि एक ऐसे आदमी को, जिसने अपना सारा जीवन आप लोगों की सेवा में लगा दिया है, एक छाते जैसी तुच्छ चीज से, क्यों जुदा किया जावे।"

तेजभान कुछ और कहते यदि ठाकुर के एक साथी ने उन्हें डाँट न दिया होता—"अच्छा अब बहुत ह्वै गवा। अब चुप्पै रहौ। नाहीं तौ मारब बेंड ह्वै जाब्यौ। रस्तेन से कट्टहै घेर लिहिन घाट पै न जानी का होई।"

तेजभान इसके लिए तैयार नहीं थे। लेकिन वे इसके लिए भी तैयार न थे कि अपना छाता यों ही भड़ी में छोड़ दें, जब कि एक आदमी उनके सामने से ही उसे सरीहन चोरी क्यों सीनाजोरी करके हथियाये लिए जा रहा है।

लेकिन ठाकुर के साथी की घुड़की ने उन्हें थोड़ी देर के लिए चुप जरूर कर दिया। वे आगे कुछ कहने के लिए मौका ढूढ़ने लगे। क्योंकि

उन्हें अब विश्वास हो गया था कि उनका मुर्गा छाप छाता उन्हें आसानी से नहीं मिलेगा।

चार मील खुफिआ पुलिस की तरह पीछा करने के बाद उन्हें फिर मौका मिला उस बड़े चौराहे पर, जहाँ सड़क के किनारे लाश को रखकर ठाकुर लोग दम लेने लगे थे। चौराहे पर पहले से ही कुछ लोगों की भीड़ थी, जो वहाँ लारी का इन्तजार कर रही थी। एक लाश आई देख सब यात्रियों का कोलाहल कुछ देर के लिए थम गया, जैसे उस मृत आत्मा के आदर के लिए सब मौन हो गए हों।

"साइकिल कम्पलीट और पाँच कोस से पैदल चलना पड़ रहा है, हे ईश्वर! जैसी तुम्हारी मरजी" तेजभान ने गहरे निश्वास के साथ खामोशी तोड़ी।

"यह नागहानी परमात्मा सब को दिखाता है भाई!" एक वृद्ध यात्री ने कहा। "जो यहाँ आया है, वह मरेगा ही। अब तो सिवा धीरज धरने के और दूसरा चारा ही क्या है। कहा है—एक दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।"

तेजभान बोले, "भाई साहब! यह नागहानी जो मेरे ऊपर पड़ी है वह ईश्वर की ओर से नहीं बल्कि हमारे इन मेहरबान ठाकुर साहब की ओर से आई है, जो हमारा असली-मुर्गा-छाप छाता जबरदस्ती हथियाए हुए बैठे हैं। इसी छाते के लिए साइकिल कम्पलीट रहते हुए भी मुझे इनके साथ पैदल ही दस मील की मंजिल मारनी पड़ रही है।"

भीड़ में एक फुसफुसाहट दौड़ गई। अपने किसी सम्बन्धी की लाश ढोते समय कोई ऐसा छोटा काम करेगा, इस पर जैसे कोई विश्वास ही नहीं करना चाहता था।

"अरे, राम राम, कैसी बात करते हो भाई! ऐसी बात सोचने से भी पाप लगता है।" एक वृद्ध ब्राह्मण ने तेजभान से कहा। सभी यात्रियों ने ब्राह्मण की राय की ताईद की। "हाँ, भला ऐसा भी कहीं हो सकता है?

ऐसा छोटा काम कोई नहीं कर सकता।" इसी तरह की मिलती हुई राय कई लोगों ने दीं। ठाकुर साहब ने जन-समूह को अपनी ओर पाया तो अपील के शब्दों में बोले, "देखते हैं आप लोग इनकी जबरदस्ती! दो तीन घण्टे से हम लोगों के पीछे पड़े हुए हैं, इस छतुल्ली के लिए। जैसे कोई सी० आई० डी० पीछे पड़ा हो। सौ दफ़ा कहा कि अगर छाते की जरूरत है तो हाथ पसार कर माँगो। हमारी खुशी होगी तो दे देंगे। लेकिन इस तरह तो अपना छाता भी दें और ऊपर से चोर बेइमान बनें। भाई! यह हमारे बूते का नहीं है।"

तेजभान ने कहा, "छाता तो भाई साहब, सच पूछिए तो हमारा ही है। इसे आप का भी जी जानता होगा। पर इस समय आपका उस पर कब्जा है। इससे आप शाह और मैं चोर समझा जा रहा हूँ। यह हो सकता है कि आपने उसको चुराने के इरादे से बाग से न उठाया हो। बल्कि इसका कोई मालिक न पाकर ही आपने इसे अपने हाथ में लगा लिया हो, लेकिन अब आप उसके मोह में पड़ गये हैं और एक झूठ को छिपाने के लिए आपको कई झूठ बोलना पड़ रहा है।"

ठाकुर साहब को फिर क्रोध आ गया। वे काफी परेशान हो चुके थे। उन्होंने गुस्से से कहा, "अच्छा तुम्हारा ही छाता है बस। जाओ जो करना हो करो। लेकिन अब खोपड़ी पर चढ़कर ज्यादा बरबराओगे तो ठीक न होगा। कँगला कहीं का।"

तेजभान ने किसी किताब में पढ़ा था कि हारने वाला ही गुस्सा करता है। इससे वे ठाकुर साहब के क्रोध पर विजय से मुस्किराते हुए बोले, "जो खुशी हो आप कह लें। आप ही की जबान बिगड़ेगी। मेरा क्या, लेकिन यह बिना साबित किए कि यह असली मुर्गा छाप वाला छाता हमारा ही है, मैं आपका साथ जन्म भर न छोड़ूँगा।"

ठाकुर साहब काफी ऊब चुके थे। वे उठकर खड़े हो गये और अपने साथियों से बोले, "उठाओ भाई! अभी बहुत दूर चलना है।"

"रामनाम सत्य है सत्य बोलो मुक्त है।" के शब्दों के साथ लाश फिर आगे चली। तेजभान ने भी अपनी साइकिल उठाई और अरथी के पीछे पीछे पैदल चलने लगे।

ठाकुर साहब ने उन्हें फिर करीब आते देखा तो इस बार लाठी उठा कर कहा, "अब बहुत हो चुका। अब जिसके आदमी हो तुम, वह हम जान गए है। अब दूर ही रहो। लाठी के तान में आओगे तो मारूंगा भडारा खुल जावेगा। इसी से कहा कि छोटे आदमियों को मुह न लगाना चाहिए।"

तेजभान बोले, -'अच्छा भाई साहब, जैसी आपकी मरजी। लेकिन जरा सोचिए तो कि आपका यह काम कैसा हे, एक मामूली सा पुराना छाता, जो एक नहीं कई बरसातें खा चुका है, इस समय आपको अच्छे बुरे की पहचान करने से रोक रहा है। आखिर उसके लिए आपका इतना मोह क्यो हो गया है ? मोह क्यों, मे तो कहूंगा आपको उसके लिए जिद सी हो गई है। और जिद से भाई साहब सब मानिए आदमी का बड़ा नैतिक पतन होता है। यह मनुष्य के शरीर में घुन की तरह लग जाती है और उसका जीवन सब तरह से नष्ट हो जाता है।',

ठाकुर के घूर कर देखते ही तेजभान एक क्षण के लिए चुप हो गये। लेकिन फ़ौरन ही उनका व्याख्यान फिर शुरू हुआ, "और यह भी तो हुआ होगा कि छाता उठाते समय आप ने यह थोड़े ही सोचा होगा कि इतनी जल्दी इसके मालिक से भेंट हो जावेगी। और वह आदमी जो इस असली मुर्गा छाप वाले छाते का असली मालिक है आपको अपनी डायरी में इसका नम्बर और पूरी हुलिया दिखा देगा। मैं तो भाई साहब उसी जगह कट गया था, अगर मेरी डायरी में इसका ७१५ नम्बर न निकल आता।"

ठाकुर साहब का धैर्य अब छूट चुका था। उनकी जिन्दगी में यह पहला ही मौका था किसी ने अपनी बकवास से आम को इमली कर

दिखाया हो। वे यदि अपनी चची की लाश के साथ न होते तो तेज-भान को बिना मारे न छोड़ते। पर उसका यह समय नहीं था। मारे गुस्से के उन्होंने छाते को सड़क से दूर फेंकते हुए कहा, "ले अपना मुर्गा मुर्गी छाप वाला असली छाता! दमड़ी की हाँडी गई कुत्ते की जात पहचानी गई। समझ लेंगे कि तेरही में महाब्राह्मण को दे दिया।"
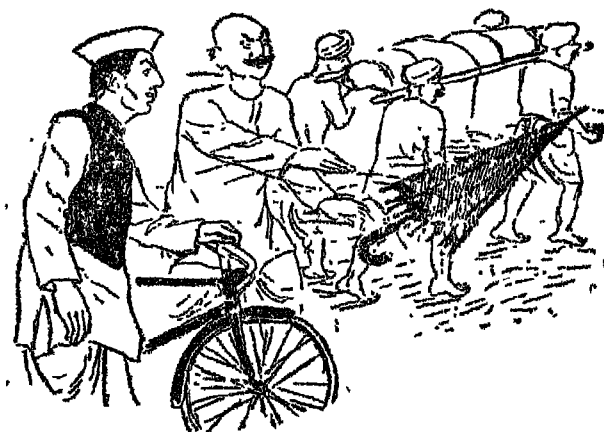
"ले अपना मुर्गी मुर्गा छाप वाला असली छाता।"

तेजभान अपनी विजय पर प्रसन्न हो गये। सत्य की सदा विजय होती है। उन्होंने लपक कर अपना छाता उठा लिया और ठाकुर साहब को बहुत धन्यवाद देकर साइकिल पर चढ़कर अपने गाँव की ओर चले गए।

पूरे दो महीने घर में रहने के बाद जब वे अपने हलके की ओर लौटे तो सब से पहिले वे जटायू जी की कुटी पर उतरे। उस दिन गाँव वालों के साथ उस ठाकुर की बात में पड़ कर जटायू भी उनको झूठा समझ रहे थे। आज वे उनको सारा किस्सा बता कर और उस छाते को

दिखाकर अपनी सचाई साबित कर देना चाहते थे। लेकिन उनको देखते ही जटायू ने अपने छप्पर में खोंसे हुए एक छाते को निकाला और उसे इन्हें देते हुए कहा, "लो भाई अपना छाता। उस दिन तुमने झूठ-मूठ ही उन ठाकुर साहब से झगड़ा करा दिया होता। यह तो खैरियत हुई कि वह जान-पहचान के आदमी निकल आये। तुम्हारे जाने के बाद ही एक चरवाहा इसे यहाँ दे गया। उसे यह उसी बन्दराही बाग में मिला जहाँ तुम उस दिन सोए थे। मैं तो इसे देखते ही समझ गया कि यह तुम्हारा ही छाता है। इसी से इसे रख लिया कि तुम जब इधर फेरा करोगे तो तुम्हें इसे दिखाकर तुम्हारी भूल बताऊँगा।"

तेजभान के काटो तो खून नहीं। उन्होंने जल्दी ही छाता खोला। उसमें भी लिखा था "असली मुर्गा छाप नं० ७१५।" उनका सिर जैसे घूम गया। तो क्या सभी असली मुर्गा छाप वाले छातों का नम्बर ७१५ होता है।
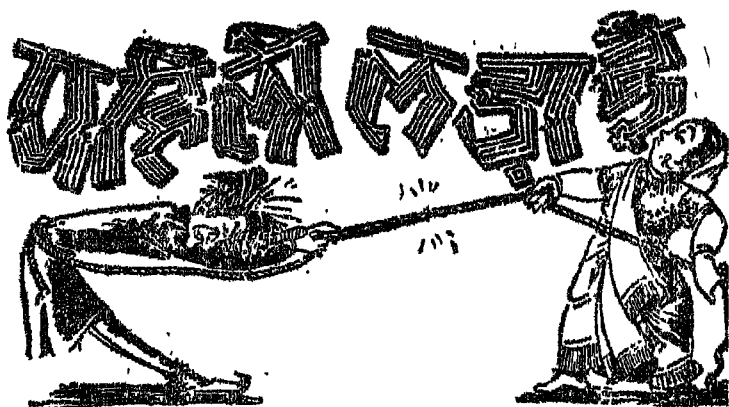
बचपन में एक कहानी सुनी थी। किसी शहर के काजी ने एक आदमी को यह सजा दी कि इसकी नाक काट ली जावे। आदमी था मसखरा। नाक कट जाने पर उसने जरा भी अफ़सोस नहीं ज़ाहिर किया। काजी की भी किसी से शिकायत नहीं की। बस वह जिससे मिलता, यही कहता कि नाक कट जाने से उसको साक्षात् भगवान के दर्शन होने लगे हैं। यह नाक ही तो उसके और भगवान के बीच में दीवार की तरह खड़ी थी। काज़ी जी का भला हो, जिन्होंने उसके लिए वैकुण्ठ का द्वार खोल दिया।

उसकी इन बातों में एक मूर्ख फँस ही तो गया। उसने भी अपनी नाक कटवा डाली, लेकिन भगवान दिखाई न पड़े। नककटे ने उसको अलग ले जाकर कहा—"अब तो तुम फँस ही गए हो। इससे तुम भी मेरी बात को दुहराना शुरू कर दो। तभी और लोग नाक कटाकर हम लोगों के गिरोह में शामिल होंगे।" लिहाजा उसने भी सबसे वैसा ही

कहना शुरू किया और नतीजा यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में शहर में जिधर देखिए उधर नक्कटे ही नक्कटे दिखाई पड़ने लगे।

मेरे लिए यह कहानी पहले तो कहानी ही थी लेकिन अब जो इस पर गौर से सोचता हूँ तो ऐसा जान पड़ता है कि शुरू-शुरू में जिसने शादी की चलन चलाई होगी, वह भी उसी नक्कटे की तरह एक नम्बर का मसखरा रहा होगा। फिर एक बार जब यह सिलसिला चल निकला तो फिर नक्कटों की कहाँ कमी रहती और अब तो हालत यहाँ तक पहुँच गई कि यह देखते हुए भी—कि एक भी जोड़ा बिना झगड़ा बखेड़ा किये सुख से अपना जीवन नहीं बिताता—शायद ही कोई ऐसा खुश-नसीब रह पाता हो, जिसके साथ एक बीबी नत्थी न कर दी जाती हो।

मैं तो कहता हूँ कि आप ही जरा ईमानदारी से अपने दिल पर हाथ रखकर कहिए कि अलग-अलग सोचने की ताकत रखने वाले दो जीव-धारियों की दुम एक साथ बांध कर सात बार चकरघिन्नी खिला देने से, यह कैसे मुमकिन हो सकता है कि वे हर बात पर एक ही तरह सोचना और एक ही तरह राय क़ायम करना शुरू कर दें। दोनों में एक ईर घाट का है, तो दूसरा बीर घाट का। एक पढ़ा लिखा है तो दूसरे के लिए

"जीवन की कूड़ा गाड़ी दोनों के लिए जोत दिए जाते हैं।"

काला अच्छर भैंस बराबर। एक, एक तरह के रस्म रिवाजों में पला है, तो दूसरा, दूसरी तरह के। अब आप ही सोचिए कि जब ये दोनों, मियां और बीबी का खिताब लेकर जीवन की कूड़ा गाड़ी ढोने के लिए भैंसों की तरह जोत दिये जाते हैं, तो उनके लिए सिवा कंधा डाल देने के और चारा ही क्या रह जाता है? गाड़ी के बोझ से जब तब वे बेचारे सर नहीं उठाते, हम लोग कहते हैं कि वाह कैसे प्रेम और मुहब्बत से गृहस्थी चल रही है। लेकिन ऐसा सोचना सरासर अपनी आँखों को धोखा देना नहीं तो और क्या है?

मैं शादीशुदा लोगों को चार मुख्य भागों में बांटता हूं। पहले तो वे ईमानदार मियाँ—बीबी हैं, जो जीवन की गाड़ी आगे चलते न देखकर एक दूसरे की शुभकामनाएँ लेकर, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की तरह, सदा के लिए अलग हो जाते हैं।

दूसरे वे अक्लमंद शौहर है जो शुरू ही से अपनी बीबियों को उसी तरह अपने अधीन कर लेते हैं जैसे सरदार पटेल ने देशी राज्यों को कर लिया था।

तीसरी श्रेणी में वे भोले-भाले पति देवता आते हैं, जिन पर उनकी धर्मपत्नियों का उसी तरह एक छत्र राज है, जैसा पाकिस्तान में बचे खुचे हिन्दुओं पर वहाँ के निवासियों का। और चौथी और सबसे बड़ी जमात उन बदनसीब पतियों की है जिनका झगड़ा काश्मीर की लड़ाई की तरह खतम होने को ही नहीं आता और जो कभी हारकर और कभी जीतकर गृहस्थी का छकड़ा किसी तरह खींचे चले जा रहे हैं।

शादी होने के बाद ही से प्रेम और मुहब्बत की छाया में, जान में या अनजान में, दोनों ओर से अपना अपना अधिकार जमाने का एक मूक प्रयत्न चलता रहता है। कुछ दिनों बाद दोनों में से अगर एक भी तेज स्वभाव का हुआ तो फैसला जल्द हो जाता है। फिर या तो मियाँ साहब 'पतिदेव' बनकर बीबी को अपनी 'चरण-दासी' बना लेते हैं या

बीबी साहिबा भवानी का रूप धारण करके मियाँ को 'अचंभे का बच्चा' बना डालती हैं। लेकिन यदि दोनों सीधे बोदे या दूसरे शब्दों में कह लीजिए शान्त और सभ्य हुए तो जिन्दगी भर टुन-पुन लगा रहता है और कभी किसी का पल्ला भारी पड़ जाता है तो कभी किसी का। इस लड़ाई में जो जीतता है वह भी हारा-हारा सा रहता है। और जो हारता है वह तो हारा है ही।

मेरी जब शादी की उम्र हुई तो चारों ओर से नक्कटों ने गिद्ध की तरह घेर लिया। पं० मसुरियादीन पांडे जिनका सोंटा दूसरे तीसरे पंडिताइन पर बरसता ही रहता था, सब के अगुआ होकर आए। इनका हाल यह कि रोज रात को बिना नागा रेडियो प्रोग्राम की तरह पाँडे पड़ाइन का नाटक शुरू हो जाता और मुहल्ले वालों की नींद हराम हो जाती। अपने ही गाँव के ठाकुर हाथी सिंह जो हाथी का सा शरीर लेकर अपनी बीबी के सामने पीपल के पत्ते की तरह काँपते थे, मुझे रोज 'शादी कर लेने की सलाह देने लगे। मुन्शी दिलसुख लाल जिनकी पहिली बीबी कुएँ में गिरकर मर गई थी और दूसरी पागल होकर इधर-उधर मारी-मारी फिरती थी, मेरे लिए अनेकों शादियाँ तलाश लाए। यहाँ तक कि हमारे स्कूल के मास्टर झगडू सिंह जो रोज स्कूल जाते समय अपनी बीबी को घर में ताले में बन्द कर जाते थे, हमारा व्याह कराने के लिए बेहद परेशान नजर आने लगे। और इन लोगों ने इस तरह मेरा पीछा किया कि न पूछिए। मैं किसी तरह भी अपने को इन गिद्धों के चक्कर से बचा न सका और अन्त में मुझे भी अपनी नाक कटा कर भगवान के दर्शकों में शामिल होना ही पड़ा।

शादी होते ही मेरे घर में बीबी साहिबा प्रकाश फैलाती हुई पधारीं। सारा घर रोशन हो गया। जैसे किसी ने पेट्रोमैक्स जला दिया हो। लेकिन थोड़े ही दिनों में—जैसा अक्सर होता है—पेट्रोमैक्स का तेल फंसने लगा और यह नौबत आ गई कि लोग यह देखने को उत्सुक नजर आने

लगे कि देखें ऊँट किस करवट बैठता है। मै धीरे-धीरे यह अनुभव करने लगा कि जैसे इस घर में मेरा सारा अधिकार छिनता जा रहा है और मेरी बीबी साहिबा की हुकूमत इस तेजी से अपने हाथ पाँव फैला रही है कि वह दिन दूर नहीं कि जब मेरा रंग यहाँ से एकदम उखड़ जायेगा। नौकर-चाकर, नाई-धोबी जिसे देखिए उसे बस मेरी बीबी साहिबा से ही वास्ता है। मैं जैसे इस घर का कोई हूँ ही नहीं। सबके लिए वे दो दिन से आकर सब कुछ हो गईं और मैं सौत का लड़का करार दे दिया गया। मुझे किसी से कुछ काम लेना हो तो अपनी बीबी साहिबा का मुँह ताकूँ नहीं तो काम अपने नाम को पड़ा रोता रहे।

मेरे गाँव में जो दरजी साहब मेरा कपड़ा सीते थे, उनका नाम था बच्चू खलीफ़ा। वे मेरे वालिद के ही नहीं बल्कि मेरे बाबा के भी कपड़े सी चुके थे, जिसका फल मुझे यह भुगतना पड़ता था कि उनके सिले हुए कपड़ों को मुझे कई बार खुलवाकर ठीक कराने पड़ते थे। क्योंकि वे यह ख्याल करके कि मैं बचपन की तरह अब भी कुछ न कुछ हर साल बढ़ जाता हूँ मेरे कपड़ों को भी हर मरतबा कुछ न कुछ बड़ा बनाते थे जिसका नतीजा यह होता था कि मेरे कुरते और पैजामे दुबारा फिर काट कर छोटे किये जाते थे।

एक बार मैंने अपनी एक पुरानी अचकन कुछ ढीली करने को बच्चू मियाँ को दी। वे पहले ही से मेरी बीबी साहिबा के कपड़े सीने में ऐसे मशगूल थे कि मेरी बात सुनी अनसुनी कर गये। दूसरे दिन जब मैंने फिर अचकन ले जाने के लिए कहा तो आप हाँ हाँ करके भी अचकन ले जाना भूल गये। तीसरे दिन मैंने फिर तकाजा किया तो आप बोले—"आज जरूर ले जाऊँगा, सरकार के कपड़े सी रहा था, इसी से नहीं ले गया।"

चौथे दिन मैंने देखा कि अचकन बदस्तूर अल्मारी में टँगी हुई है। मुझे बहुत गुस्सा आया। इतने में बच्चू मियाँ भी बाहर से आते हुए दिखाई पड़े। उनको भी मुझे देखकर जैसे अचकन की याद हो आई।

ऊपर जाते-जाते आप मेरी ओर लौट आये और बोले—"अचकन दे दीजिए नहीं तो कहीं आज भी न भूल जाऊँ।"

मैं भरा तो बैठा ही था, बोला—"बस अब आप रहने दीजिए! मैं लखनऊ जा रहा हूँ वहीं ठीक करा लूँगा।"

बच्चू मियां ने बहुत आरजू मिन्नत की, बहुत बातें बनाईं, लेकिन मेरे ऊपर कुछ असर न हुआ। मैंने उनसे साफ़-साफ़ कह दिया कि वह अचकन क्या अब उनको आगे से मेरे कोई भी कपड़े न मिलेंगे। अब तो खलीफ़ा ने समझा कि मामला बेढब है। आप कुछ देर चुपचाप न जाने क्या सोचते रहे फिर धीरे-धीरे ऊपर चले गये। ऊपर जाकर उन्होंने मेरी बीवी साहिबा को न जाने कैसी पट्टी पढ़ाई कि वे सब काम छोड़कर सत्ताईस सीढ़ियाँ पार करके नीचे आने को तैयार हो गईं। खलीफ़ा ने हवा का रुख अपनी ओर पाया तो आंख में आँसू भर कर और भी आरजू मिन्नत शुरू कर दी। बीवी साहिबा ने बुड्ढे की आँख में जरा सा पानी देखा तो पिघलकर मोम हो गईं और एक मिनट का भी वक्त न खोकर नीचे आकर मुझसे बोलीं—"इस बेचारे पर आखिर आज ऐसी खफगी क्यों है। उसे तो अचकन ले जाने के लिए मैंने ही रोक दिया था। लखनऊ चलना था इसी से इसे कुछ काम समझा रही थी। इसकी जरा भी ग़लती नहीं है।"

"सत्ताइस सीढ़ियाँ पार करके नीचे आ गईं।"

"तो उसकी ग़लती कौन बता रहा है"—मैंने कहा, "ग़लती तो सब मेरी है।"

"आपकी ग़लती क्यों ? ख़ैर अब जाने दीजिए। आपकी अचकन आज ही ठीक हो जावेगी।" मेरी बीबी साहिबा ने कहा।

"मुझे अचकन नहीं ठीक करानी है" मैंने बड़े इतमीनान से कहा।

"आप भी खूब हैं !" मेरी बीबी साहिबा बोलीं, "जरा सी बात पर बच्चों की तरह रूठे हैं। लाइये बहुत हो चुका।"

"मैंने तो कह दिया कि मुझे अचकन नहीं ठीक करानी है।" मैंने कहा—"आप बेकार में तबसे इस मामले को लेकर उलझ रही हैं।"

"आप भी अजीब आदमी हैं। ख़ामख़ाह एक सड़ी-सी बात को लेकर तिल का ताड़ बना रहे हैं। ऐसी ज़िद किस काम की। देखिये वह बेचारा डर के मारे तब से रो रहा है।" इतना बड़ा लेक्चर बीबी साहिबा ने एक सांस में दे डाला।

वैसे आदमी कुछ देर में चाहे रोना बन्द भी कर दे लेकिन रुलाई का नाम सुनते ही जो थोड़े बहुत आँसू आंखों में अटके रहते हैं वे फिर नहीं रुकते। बच्चू मियाँ की दाढ़ी फिर ख़स की टट्टी की तरह तर हो गई।

इधर बीबी साहिबा का इसरार और उधर मेरा इन्कार बढ़ता ही गया और नौबत यहाँ तक पहुँची कि उन्होंने आलमारी की चाभी न पाने पर ताला तोड़कर बच्चू मियाँ को अचकन दे देने का फैसला कर लिया। बच्चू मियाँ *आग लगाकर दूर से तमाशा देख रहे थे।* *वाद-विवाद* की आग में कुछ कमी देखते तो फौरन अपने आंसुओं के पेट्रोल से परिस्थिति को सँभाल लेते थे। मैंने भी जब देखा कि तर्क का खड्ग काम नहीं दे रहा है तो सत्याग्रह की ढाल का सहारा लिया और मुँह फुलाकर मौन धारण कर लिया।

एक ओर मैं चुपचाप बैठा हुआ अपनी दुर्दशा पर सोचने लगा कि

यह अच्छी जबरदस्ती है। मैं अपनी अचकन नहीं ठीक कराना चाहता तो इसमें किसी का क्या इजारा। घर न ठहरा भटियारखाना हो गया कि जरा सी बात हुई नहीं कि मेरी बीवी साहिबा बरहना शमशीर मौजूद हैं। उनका हुक्म न मानिए तो नौकरों के सामने जलील होइए।

मुँह फुला कर मौन धारण कर लिया।

दूसरी ओर दूसरी चाभी लगा कर मेरी आलमारी खोलने की तैयारी होने लगी। ऊपर से तालियों का बड़ा गुच्छा मँगाया गया और जैसे तैसे करके मेरी अलमारी खोल डाली गई। आलमारी खुल जाने पर यह दिक्कत तो बनी ही रही कि मेरी कौन सी अचकन ठीक होगी। बच्चू मियाँ तो मुझे चार दिन से लग्गे से घास खिला रहे थे। क़रीब आकर अचकन तो देखी नहीं थी। फिर आज भला कैसे उसे पहनते। कुछ देर इधर उधर करके मुझसे बोले—"भइया बहुत देर हो रही है आप अचकन निकाल देते तो मैं उसे आज ही ठीक कर डालता।" लेकिन मैंने कुछ उत्तर न दिया। उत्तर देना तो दरकिनार उधर देखना भी इस समय ठीक नहीं था। अचकन न पहचानने के कारण ऐसी चाल बैठ गई थी कि बस आगे मात के सिवा और कोई सूरत नहीं नजर आती थी।

बच्चू मियाँ को जब कोई उत्तर न मिला तो उन्होंने मेरी बीबी साहिबा की ओर बड़े दीन भाव से देखा। बीबी साहिबा ने भी अपनी हार होते देखा तो खिसिया कर बोलीं—"आखिर आपको आज क्या हो गया है जो मुझको और इस ग़रीब को इस क़दर परेशान कर रहे हैं। मान लिया कि उससे ग़लती हो गई। तो क्या उसके लिए अब उसे फाँसी दे दी जावे!"

मैंने तो मौन व्रत ले रखा था। इससे उन्हें कैसे समझाता कि सत्याग्रह में फाँसी का सवाल ही नहीं उठता और बिना विजय के सच्चे सत्याग्रही अपना सत्याग्रह नहीं बन्द करते। मेरी बीबी साहिबा ने जब कोई उत्तर न पाया तो उनका दुराग्रह शुरू हुआ। मेरी ओर से उदासीनता का भाव दिखाकर उन्होंने यह निश्चय किया कि वे जैसे भी होगा, उस अचकन का पता लगा लेंगी, जो इस समय उनके पराजय का कारण बन रही है। फ़ौरन ही मेरे सब नौकर तलब किये गये और उनसे रायमशविरा हुआ लेकिन उनमें से कोई भी लालबुझक्कड़ न निकला। मेरी बीबी साहिबा को यह शक हो गया कि शायद सब नौकर मुझसे मिल गये हैं। इससे वे खोखिया कर उन पर बरस पड़ीं। नौकरों ने आँधी का रुख़ अपनी ओर देखा तो अपनी जान बचाने के लिए अंदाज़न एक अचकन की ओर इशारा करके खिसक गये। बीबी साहिबा भी इतनी देर में काफ़ी खीझ चुकी थीं। उन्होंने फ़ौरन उसी अचकन को उतार कर बच्चू मियाँ के हवाले किया और घर का और काम करने के लिए ऊपर चली गईं।

उनके जाने के बाद मैंने जो आलमारी की ओर निगाह उठाई तो देखता क्या हूँ कि मेरी ठीक होने वाली अचकन उसी तरह आलमारी में टँगी है। मेरा जी धक् से हो गया। तो क्या इतनी हाय हत्या करने के बाद बच्चू फिर इसे यहाँ छोड़ गया है कि एक बार मियां बीबी की झपट और हो? या वह धोखे से मेरी कोई दूसरी अचकन उठा ले गया है? मैंने खिड़की से बाहर की ओर झाँका तो क्या देखता हूँ कि वे बड़े इतमीनान से दालान में बैठे मेरी लखनऊ से नई सिलकर आई हुई अचकन को उलट पुलट कर देख रहे हैं। मैं घबरा गया कि क्या होने वाला है आज? क्या इसी झमेले में मेरी नई अचकन खोल डाली जावेगी? कहाँ मैं समझ रहा था कि किस सफ़ाई से मात दे दी। लेकिन अब देखता हूँ कि किश्त बचानी मुश्किल हो रही है। मैं इस उधेड़बुन में था कि मुझे

एक तरकीब सूझी। मैंने सोचा कि अभी कुछ देर में आरजी सुलह हो हो जावेगी और तब मैं नौकर भेज कर किसी बहाने इसके घर से अपनी अचकन मंगा लूँगा।

लेकिन बच्चू मियाँ इल्म ग़ैब तो पढ़े नहीं थे कि मेरे दिल की इन बारीकियो को समझ लेते। उन्होंने तो इस समय अपनी ख़ैरख्वाही दिखाने के लिए यही ठीक समझा कि जैसे भी हो अचकन को जल्द से जल्द खोल डालना चाहिए। वे वहीं चद्दर बिछा कर बैठ गये और ऐनक लगा कर अपने काम में लग गये। मैंने दुबारा बाहर की ओर झाँका तो देखा कि वे बड़ी मुस्तैदी से अचकन की बखिया उधेड़ने में मशगूल हैं।

अब तो मैं सचमुच उलझन में पड़ गया। बोलता हूँ तो पहली ही लड़ाई में शिकस्त होती है। और नहीं बोलता तो 'बाकर' के यहां की सिली हुई इतनी बढ़िया अचकन यह देहाती दरज़ी मेरे आँखों के सामने उधेड़ कर रख देता है। मैं सोचने लगा कि शायद मेरी बीबी साहिबा आकर इसे किसी और काम में लगा दें, या इसे घर जाने के लिए ही कह दें। तो भी कोई न कोई सूरत निकल आवेगी। लेकिन मेरी बीबी साहिबा हैं कि आज ऊपर से उतरने का नाम ही नहीं लेती। न जाने आज कहाँ के इतने जरूरी काम आ गये हैं कि उन्हें उनसे जैसे फ़ुरसत ही नही मिल रही है। कहाँ तो रोज यहां से हटाने पर भी न हटती थीं और आज ऐसे जरूरी काम में फंस गई हैं कि इस ओर आने की क़सम ही खा ली है। और यह दरजी है कि मेरी अचकन की सूरत बिगाड़ने पर जैसे आमादा हो गया है।

मैंने फिर बड़ी बेसब्री से बाहर की ओर देखा। अब तक एक आस्तीन खोल कर अलग की जा चुकी थी और अचकन बेचारी रोनी सूरत बनाये बड़ी कातर दृष्टि से मेरी ओर देख रही थी। पर मैं उसे कैसे समझाता कि:—

बात कुछ ऐसी है जिससे चुप हूँ,
वरना क्या बात कर नहीं आती।

मैं यही सोच रहा था कि मेरी बीबी साहिबा दिखाई पड़ी। मैं सँभल कर अपनी जगह पर बैठ गया और निरुद्देश्य दृष्टि से एक ओर देखने लगा, जैसे इस असार संसार में मेरा किसी से कोई वास्ता ही नहीं है। जी में तो यह उम्मीद हो ही गई थी कि अब मेरी अचकन बच गई। आस्तीन ही तो खोली गई है। वह आस्तीन आसानी से फिर ठीक हो जावेगी। संतोष की एक गहरी सांस लेकर मैंने उस ओर देखना भी बंद कर दिया। पर जब मेरी बीबी साहिबा ने कहा—"बच्चू मियाँ! आज अचकन खोल कर ही जाना, चाहे कितनी देर क्यों न हो। जाओ यहीं खाना खा लो।" तब मेरे होश के तोते उड़ गये।

इन नादिरशाही हुक्म से पहले तो मैं घबरा गया। आँखों के सामने एक मोह का परदा-सा पड़ गया। अचकन की रोनी सूरत रह रहकर आँखों के सामने आने जाने लगी लेकिन मैंने अपने को संभाल लिया। और मारपीट कर त्याग की भावना को मन में दौड़ने के लिए मजबूर किया। सत्याग्रहिओं के सामने परीक्षा के इससे भी कठिन अवसर आते हैं। कर्ण ने जब अपना कवच और कुण्डल काटकर दे दिया तो क्या मैं अपनी अचकन नहीं दे सकता? फिर अभी तो सुलह की बातचीत का मौका है। और मैं कर्ण की तरह जिद्दी भी नहीं हूँ। जब तक बच्चू मियाँ खाते हैं तब तक कोई न कोई सूरत निकल ही आवेगी कि सांप भी मर जावे और लाठी भी न टूटे। मैं शान्त किन्तु सतर्क दृष्टि से बार-बार दरवाजे की ओर देखता हुआ इन्तजार का मजा लूटने लगा। मन ही मन स्कीम बनाने लगा कि किस प्रकार लड़ाई खतम होते ही अपनी अचकन को बच्चू मियाँ की काल कोठरी से रिहाई दिलवाऊँगा। लेकिन आध घण्टा हो गया, पौन घण्टा होने को आए और बच्चू मियाँ की कोई आहट न मिली। क्या बात हो गई! क्या घर चला गया क्या? या खाना खाकर

कहीं सो गया जाकर ? पर सोवेगा क्या ? शायद खाने में ही देर हो गई होगी। इसी तरह के विचार रह रहकर दिमाग में मण्डराने लगे।

खाने का समय घरेलू झगड़ों में हमेशा सुलह की एक आशा लेकर आता है। मेरी भी बहुत कुछ उम्मीद इसी घड़ी पर अटकी थी कि जल्द खाना आवे और जल्द सुलह हो जावे। जिससे मैं अपनी अचकन रूपी सीता को किसी तरह इस रावण के चंगुल से बचा लूँ। लेकिन आज खाने में भी जान पड़ने लगा कि जैसे बहुत देर हो रही है। न जाने आज कौन से व्यंजन बन रहे हैं कि जान पड़ता है कि खाना आते आते शाम हो जावेगी।

खैर जैसे तैसे करके किसी तरह खाना आया और साथ ही साथ आईं मेरी बीबी साहिबा भी आरज़ी सुलह का संदेश लिए हुए। उन्होंने आते ही कहा—"चलिए साहब आप जीते मैं हारी। खाना मेज पर लग गया है। आज तो आपने घर भर में एक तमाशा खड़ा कर दिया।"

मैं तो लियाक़त अली की तरह पैक्ट के लिए तैयार ही था। धीरे से मुँह बनाए हुए खाने के कमरे में आकर बैठ गया। लेकिन निगाह दरवाजे की ओर और कान बच्चू मियाँ की पगध्वनि की ओर ही लगे रहे।

"तो आप बोलते क्यों नहीं ?" मेरी बीबी साहिबा ने फ़र्माया—"अब तो सब बात खत्म हो गई या अभी कुछ और बाक़ी है, जो यह ग़ुस्सा नहीं उतर रहा है।"

"बोल तो रहा हूँ"—मैंने इतनी देर बाद अपनी ज़बान हिलाई। क्योंकि समय बहुत कम था और इसी बीच मुझे लड़ाई की पहली जैसी हालत पर आ जाना था। नहीं तो इस बार बच्चू मियाँ से अचकन बचाना आसान न होगा।

इतने ही में किसी की आहट सुन पड़ी। वे बच्चू मियाँ ही थे। खैर अब कोई डर नहीं। अब तो मैंने बोलना शुरू कर दिया है। अब सब ठीक कर लूँगा। मैंने बड़े इतमीनान से उनकी ओर उड़ती हुई नज़र से देखा।

पर यह क्या ? बच्चू ने मेरी अचकन के एक एक टुकड़े अपनी पोटली से खोल कर अपने दोनों हाथों पर फैला दिये और अपनी कारगुजारी से
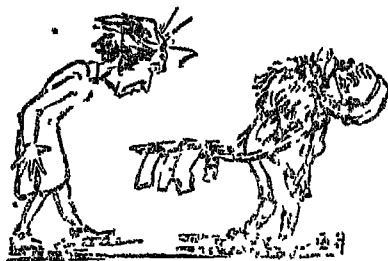
'अचकन के टुकड़े अपने हाथों पर फैला दिए'

फूल कर बोले—"सरकार खाने की कौन कहे बावर्चीखाने की ओर जाना भी हराम है। मैंने कहा आज इस अचकन को खोलकर ही दम लूंगा। भइया अब तो कहिए बहुत कम गुस्सा होते है। बचपन में बिगड़ जाते थे तो घंटों धूल में पड़े रहते थे। न जाने कितनी बार मनाते वक्त इस बुड्ढे की दाढ़ी नोच ली है।" इतना कह कर वे अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरने लगे। और मैं ? मेरे तो पैर के नीचे से जैसे मिट्टी खिसक गई। बोलता भी तो भला क्या बोलता ? एक ही वाक्य बोलने के बाद बोलती बंद हो गई। चुपचाप अचकन के उन टुकड़ों की ओर सिर झुकाए देखने लगा, जिन्हें बच्चू मियां बड़ी सावधानी से लपेट रहे थे।

इस प्रकार हम लोगों की अन्तिम नहीं तो पहली लड़ाई समाप्त हुई।

मेरी बीबी डाक्टर हैं । डिगरीयाफ्ता डाक्टर नहीं । बस यूँ ही शौकिया कह लीजिए या यूँ समझ लीजिए कि तफ़रीहन उन्हें डाक्टरी करने का एक खफ्त सा है ।

खैरियत यही है कि मरीज मैं ही अकेला हूँ । नहीं तो अभी तक उन्हें आदमी को जहर देने के जुर्म में कई बार फाँसी हो चुकी होती । लेकिन मैं ठहरा उनका एकमात्र पति । इसीलिए मुझे उनके शौक को पूरा करने के लिए जिन्दा रहकर उसी तरह मरीज बन जाना पड़ता है जिसके बारे में

वे किताबों में पढ़कर दवा करने की ख्वाहिश जाहिर करती हैं। रोग का जैसा लक्षण वे बताती हैं मैं भी ठीक उन्हीं लक्षणों को अपने में बताता हूँ। और जो दवा वे तजवीज करके देती है मैं चुपके से उसे फेंककर उन्हीं के कहने के मुताबिक दवा का असर बता कर अच्छा हो जाता हूँ। बस इसी तरह उनकी डाक्टरी और हमारी बीमारी चलती रहती है।

बीबी साहिबा अब तो ऐलोपेथी यानी आजकल की डाक्टरी की क़ायल हैं, लेकिन पहले वे होमियोपेथी, हकीमी, वैद्यकी और न जाने कौन कौन से तरकीबों को आजमा चुकी हैं। ऐलोपेथी में भी अभी चीड़,फाड़ का उन्हें शौक नहीं हुआ नहीं तो ब्लेड और चाकू से अब तक घर के पालतू कुत्ते बिल्लियों की चीड़-फाड़ तो हो ही चुकी होती।

पहले उन्होंने होमियोपेथी से अपनी डाक्टरी की शुरुआत क़ी। मेरे पड़ोस में ही एक घोष बाबू रहते थे। जो पेन्शन मिलने के बाद से घर में ही बैठकर गरीबों को मुफ्त दवा बाँटते थे। उनके मकान के सामने से बिना दवा खाये चिड़िया भी उड़कर नहीं जा सकती थी, आदमी की क्या मजाल। वे जिसे भी उधर से जाते देखते बड़े प्यार से अपने पास बुलाते और उससे इधर-उधर की बातें करके उसमें कोई न कोई रोग निकाल ही लेते। फिर उसको दवा खिलाने में कितनी देर लगती है।

मैं भी पड़ोसी होने के नाते दूसरे चौथे उनके यहाँ पहुँच ही जाता था। मुझे देखते ही घोष बाबू कहते—"बेटा, आज तुम्हारी आवाज क्यों भारी-भारी-सी लग रही है? जान पड़ता है पेट साफ नहीं है। सवेरे सो कर उठने पर थकावट सी जान पड़ती है न! अच्छा तुम फिक्र न करो। बेटी पून्ना! ओ बेटी पून्ना! जरा शुरेश दा को ३० ब्राइनियाँ तो दे दो।" सुश्री पूर्णिमा घोष एक शीशी लेकर आती और मैं चुपचाप जबान बाहर निकाल देता जिस पर थोड़ी सी छोटी छोटी शक्कर की गोलियाँ शीशी ठोंक-ठोंक कर गिरा दी जातीं।

भला ऐसा उस्ताद पाकर मेरी बीबी साहिबा बिना शागिर्दी किए

कैसे रह सकती थी। धीरे-धीरे घोष बाबू ने उन्हें सारी होम्योपैथी सिखा दी। और एक दिन मैंने देखा कि घर में एक लकड़ी का बक्स, जिसमें पचासों शीशियों में चींटी के अंडे की तरह की गोलियाँ भरी हैं, पहुँच गया है। साथ ही ८-१० किताबें भी, जिसमें रोगों का निदान और दवाओं की खूबियाँ दर्ज थीं, मेज पर रखी हैं।

मैं जानता था कि ये गोलियाँ मेरे ही ऊपर इस्तेमाल होंगी और हुआ भी वही। घोष बाबू के यहाँ तो चौथे-पाँचवें इन्हें खाना ही पड़ता था। लेकिन यहाँ सबेरे ही सवेरे कोई न कोई रोग निकाल कर नाश्ते की जगह मुझे यह चीनी की गोलियाँ मिलने लगीं।

एक दिन इत्तफ़ाक से सबेरे ही मेरे एक मित्र मुझसे मिलने आये। मैंने चाय मँगाई तो मालूम हुआ कि घर में चीनी नहीं है। बीबी साहिबा भी घोष बाबू के यहाँ बैठी थीं। बड़ी मुसीबत में पड़ गया। कोई सूरत न देखकर मैंने होम्योपैथी के बक्स की शीशियों की सारी गोलियाँ निकाल लीं और उन्हें पीसकर चीनी दानी में भर दिया जिससे चीनी का मसला फिलहाल तो तै ही हो गया। बीबी साहिबा भी आईं और चाय में शामिल हो गईं, लेकिन उन्हें पता न चला कि हम लोग आज चाय में आइनियां, नक्स, एकोनाइट, थुजा और पलसटिला आदि मजे में पी रहे हैं।

दूसरे दिन जब उन्होंने अपनी दवाइयों का बक्स खोला तो बड़ा हाय तोबा मचाया। लेकिन जब मैंने उन्हें बताया कि कल की चाय उनके इस जादू की बक्स की बदौलत ही इतनी अच्छी हुई तो पहले तो वे बहुत उछलीं कूदीं लेकिन इतना तो उन्हें विश्वास हो गया कि ये गोलियां वास्तव में चीनी के अलावा और कुछ नहीं हैं। और इस प्रकार होम्योपैथी से हमारा पिंड छूटा।

मैंने सोचा कि चलो जान बची। लेकिन ज्यादा दिन नहीं बीतने पाये कि एक हकीम साहब की आमदरफ्त हमारे यहाँ शुरू हो गई। हकीम साहब की पैदाइश तो किसी जमाने में यहीं हुई थी लेकिन इतनी

उम्र तक देश-विदेश की खाक छानने के बाद अब वे यहीं का कब्रस्तान आबाद करने के लिए, वापस लौट आये थे। आपकी ख्वाहिश थी कि गाव मे सरकार की ओर से एक सरकारी शफाखाना खोल दिया जावे और उसमे इनको हकीम मुकर्रर कर दिया जावे। जिससे यहा के लोगो को भी जल्द अल्ला मियाँ के घर का रास्ता देखने मे सहूलियत हो जावे। आप इसी शफाखाने की कोशिश के लिए रोज हमारे यहा हाजिरी देने पहुँचने लगे।

मेरी बीबी साहिबा को उन्होने हिकमत के ऐसे-ऐसे किस्से सुनाये कि वे इनको खास हकीम लुकमान का वंशधर समझने लगी। हकीम साहब की मदद से तरह-तरह के शर्बत तैयार होने लगे और घड़ी-घड़ी पर हकीम साहब की तलाश होने लगी। कभी मुझे अंगूर की पत्ती को राग मे कोई दवा दी जाती तो कभी मूली की पत्ती के अर्क मे कोई दवा पिलाई जाती। दिन भर हवामदस्ते मे एक न एक नौकर कुछ न कुछ कूटता ही रहता।

"हकीम सबेरे ही से डट जाता था।"

शर्बत तक तो मुझे भी कोई तामुल न था लेकिन मूली का अर्क गले के नीचे न उतरता था। मैं इस मुसीबत से छूटने की तरकीबें सोचने लगा लेकिन हकीम मलकुलमौत की तरह सबेरे से ही आकर डट जाता था। इस बार वह शीशी मे कोई माजून लेकर आया। उसका काला रंग देखते ही मेरे होश उड़ गए, लेकिन बीबी साहिबा ने उसकी तारीफ़ सुनी तो फौरन एक चम्मच मे निकालकर मुझे चटा दिया। उसकी कड़ुआहट से सारा घर घूम गया। मैने बेहोशी का बहाना किया और दम साध कर लेट गया।

घर भर में तहलका मच गया। कोई पंखा झल रहा है, तो कोई सर पर गुलाब छिड़क रहा है। हकीम साहब घर जा चुके थे। मैंने थोड़ी देर में आँखें खोलीं तो बीबी साहिबा ने पूछा, "कैसी तबीयत है?" मैंने धीरे से कहा, "तबीयत तो अब ठीक है लेकिन दवा वाक़ई बहुत तेज है। जान पड़ता है हक़ीम साहब के पास जरूर कोई लुक़मानी नुसखा है। इस दवा में यक़ीनन मेमियाई मिली हुई है।"

बीबी साहिबा ने पूछा, "मेमिआई क्या?"

"मेमिआई नही जानतीं!" मैंने कहा—'अरे मेमिआई तो पहले सभी बड़े हकीम बनाया करते थे। उसको बनाने के लिए किसी काले आदमी को उलटा टाँग कर उसके सर में छेद कर दिया जाता है। और उसके नीचे आग जला कर एक तसला रख दिया जाता है। वह आदमी आग से तड़प-तड़पकर मर जाता है और उसके बदन का सारा अर्क़ सर के छेद से टपक-टपककर तसले में भर जाता है। इसी अर्क़ को हक़ीम लोग मेमिआई कहते है और इसको बड़े-बड़े हकीम ही बना सकते हैं। आजकल

तो कोई इसे बना ही नहीं सकता। यह तो बस पुश्तैनी हकीमों के यहाँ ही मिल सकती है।"

"वैद्यराज भैंसे की जगह रिक्शे पर आते थे।"

मेरी बीबी साहिबा ने घृणा से मुंह फिरा कर कहा, "उँह ऐसी गंदी चीज ये हकीम अपनी दवाओं में मिलाते हैं? और उन्होंने उसी दम हकीम साहब की दवाओं को घर के बाहर फिकवा दिया।

मैंने सोचा अब शायद शान्ति के दिन आ गये लेकिन थोड़े ही दिनों में एक अशान्तिरूपी वैद्यराज हमारे यहाँ आ धमके। काला सा स्थूल शरीर, बड़े-बड़े विशाल नेत्र,

माथे पर त्रिपुंड, साक्षात् यमराज के स्वरूप। सिर्फ भैंसे की जगह रिक्शे पर आते थे। एक लड़के की फ़ीस माफ़ कराने के सिलसिले में हमारे यहाँ आये तो उन्होंने हमारी बीबी साहिबा पर आयुर्वेद का ऐसा रंग जमाया कि वे उन्हें साक्षात् धन्वन्तरि का अवतार समझने लगीं।

वैद्यराज ने मेरी नाड़ी देख कर बात, कफ़ और पित्त तीनों की अधिकता बताई और मेरे लिए तरह-तरह के पाक और रसायन तैयार होने लगे। पाक तो मुझे भी स्वादिष्ट लगा लेकिन अदरक के रस के साथ चाटने के लिए जो दवा वैद्यराज जी ने दी उससे मेरी खोपड़ी भिन्ना गई। इस वैद्य रूपी यमराज के पंजे से कैसे मुक्ति मिले, मुझे यही चिन्ता सताने लगी। मैंने एक दिन अपनी बीबी साहिबा से कहा, "आयुर्वेद पर मेरा भी विश्वास है लेकिन जहाँ इसका चसका लगा नहीं कि आदमी कंगाल ही हो जाता है।"

मेरी बीबी साहिबा ने पूछा, "यह कैसे ?"

मैंने कहा, "ये वैद्यराज धीरे-धीरे घर भर के सोना चाँदी और मोती मूँगे का भस्म बनवा डालते हैं। घर में एक जेवर भी इनके मारे नहीं बचने पाता।"

यह सुनते ही मेरी बीबी साहिबा के कान खड़े हुए और उन्होंने 'अक्लमंद को इशारा काफ़ी है' वाली कहावत पर इस खूबी से अमल किया कि मुझे दुबारा कहने की जरूरत न पड़ी और वैद्य जी की भी पतंग कट गई।

मैंने सोचा कि अब मेरे भाग्य में शान्ति और सुख की गंगा जमुना के संगम का योग लिखा है लेकिन अभी दिल्ली दूर थी। मेरे गाँव के अस्पताल के जो नये डाक्टर आगरे से आये वे हमारी बदकिस्मती से ऐसे मिलनसार निकले कि अस्पताल से निकलते ही वे सीधे हमारे यहाँ पहुँच जाते थे। घर के अकेले आदमी, सीधे कालिज से निकले हुए। मेरे यहाँ रेडियो और अखबार की लालच से शाम को पहुंचते तो फिर देश भर के

सारे रेडियो स्टेशनों के बन्द होने पर ही घर लौटते। मेरे यहाँ वे जब तक रहते तब तक या तो मेरा रेडियो खोले रहते या फिर उनका खुद का रेडियो खुल जाता और फिर किसकी मजाल जो उनकी बात काट सके। लेकिन डाक्टर साहब की बातों का विषय एक ही रहता कि ऐलोपैथी चिकित्सा सबसे अच्छी होती है और बाकी सब लोगों के ठगने के ढंग हैं।

वे अपनी बातों के सिलसिले में और अपने कथन को सत्य साबित करने के लिए आज कल की सभी प्रसिद्ध दवाइयों का गुणगान रोज एक-दो बार तो कर ही डालते थे। उनका रंग मेरी बीबी साहिबा पर सबसे जल्दी और गहरा चढ़ा। इन्जेक्शन से फ़ौरन फायदा होते सभी ने देखा है। इससे सहल और आसान चीज उन्हें और कोई न लगी। न हवामदस्ते की जरूरत और न करमबीख़ की। एक पतली सी इन्जेक्शन की पिचकारी कैसा जादू दिखाती है कि बड़े-बड़े वैद्य और हकीम उसके आगे पानी भरें।

उन्होंने डाक्टर साहब से सलाह करके दो-तीन साइजों का सिरन्ज मँगा लीं और साथ ही जितने किस्म की दवाइयाँ मिल सकीं वे भी धीरे-धीरे मेरे घर पहुँच गईं। मेरे रोज इन्जेक्शन लगने लगे। कभी मिल्क के तो कभी बिटामिन बी के। जरा सा चलने में साँस फूली तो 'हार्ट अटैक' का सुबहा करके कोरामिन की सुई लगा दी गई और बदन में चींटी के काटने का भी दर्द हुआ तो मारफ़िया की सुई लगा कर मुझे सुला दिया गया। इस प्रकार महीने भर में ही मेरी बीबी साहिबा बिना किसी का प्राण लिए इन्जेक्शन लगाने में माहिर हो गईं। इतना जरूर हुआ कि मेरी दोनों बाँहें और जाँघें झाँझर हो गईं और उन पर तिल रखने की कौन कहे सुई की नोक के लिए भी जगह न रह गई।

मैंने सोचा शायद मेरी बीबी साहिबा को अब दया आ जावेगी लेकिन अगर डाक्टर दया दिखाने लगे और मरीज़ अपनी मनमानी करने

"दोनों बाँहें और जाँघें झाँझर हो गईं।"

लगे तो फिर शायद ही कोई अच्छा हो। इसीलिए मैंने भी उनका उत्साह भंग करना उचित नहीं समझा। धीरे-धीरे जब इन्जेक्शन की सब तरह की दवाइयाँ मेरे ऊपर इस्तेमाल की जा चुकीं तो आज कल की नई ईजाद दवाओं का नम्बर आया। इन टेरामाइसीन और स्टेप्टोमाइसीन आदि की शीशियों को बहुत ही खूबसूरत देखकर मैं इसी कोशिश में लगा कि वे जल्द खाली हों तो तम्बाकू रखने के लिए उन्हें इस्तेमाल करूँ। इससे शीशियों की लालच में पहले तो मैं भी इन्हें जल्दी-जल्दी खा गया लेकिन उनकी तेजी देख कर मेरा जी उनसे काँपने लगा पर इतनी आज़ादी तो थी नहीं कि बीमार हो कर पड़ा रहूँ जब कि घर ही में एक बड़े ऊँचे दरजे का डाक्टर मौजूद हो।

एक दिन रात को ज्यादा देर तक जगने की वजह से सवेरे उठा तो तबीयत कुछ भारी-भारी सी जान पड़ी। मेरी बदकिस्मती ही समझिए कि मुँह से निकल गया, "आज कुछ तबीयत गिरी-गिरी सी लग रही है।" बस फ़ौरन मेरे मुँह में थरमामीटर लगा दिया गया। टेम्परेचर ९९ डिगरी निकला। इतना टेम्परेचर मेरी बीबी साहिबा को बदहवास कर देने के लिए काफ़ी था। मुझे फ़ौरन चाय पीकर बिस्तर पर लेट जाने का हुक्म मिल गया और अस्पताल से टेम्परेचर का चार्ट मँगा मेरे सिरहाने टाँग दिया गया। दस बजे मेरा टेम्परेचर लिया गया तो वह ९९ डिगरी निकला और दो बजे फिर जब टेम्परेचर लिया गया तो वह वही ९९ का ९९ ही निकला।

मैने बीवी साहिबा को समझाया कि रात मे जगने की थकावट मे थोडा सा टेम्परेचर हो गया है। यह अपने आप ही ठीक हो जावेगा। लेकिन वे मेरे जैसे मरीज को पाकर उसे अपने चगुल से इतनी जल्द भला कैसे निकल जाने देती। शाम को डाक्टर साहब आये तो उनसे घटो राय मशविरा हुआ और कई मोटी-मोटी किताबे देखने के बाद यह तै हुआ कि यह थोडा सा टेम्परेचर बहुत ही खतरनाक होता है। अभी कहा नही जा सकता कि यह मलेरिया है या इन्फ्लुयेएन्जा। टाइफाइड भी हो सकता है। और परमात्मा न करे लेकिन यह टी० बी० की शुरुआत भी हो सकती है। इसलिए इसके लिए कम से कम एक हफ्ता तो पूरी तरह आराम करना चाहिए और टेम्परेचर किस ओर जाता है इसे गौर से देखना चाहिए। लिहाजा मै एक दम मरीज बनाकर चारपाई पर लिटाल दिया गया और दिन मे पाँच बार मेरा टेम्परेचर लिया जाने लगा।

"टेम्परेचर चार्ट सिरहाने टाँग दिया गया।"

एक ही दिन आराम करने पर मेरी तबीयत मे जो थकावट और भारीपन था वह चला गया लेकिन फिर भी न जाने क्यो मेरा टेम्परेचर वही ९९ का ९९ ही बना रहा।

सात दिनो तक यह क्रम चलता रहा। मै बहुत स्वस्थ और तन्दुरुस्त था लेकिन मेरा टेम्परेचर ९९ से नीचे नही उतरता था और एक सप्ताह बीत जाने पर भी जब वह ९९ से कम न हुआ तो मुझे भी फिक्र होने लगी। वैसे जाहिरा तो कोई घबराने की वजह नही दिखाई देती थी लेकिन फिर भी कभी-कभी यह चिन्ता जरूर सताने लगती थी कि आखिर

वजह क्या है कि टेम्परेचर न तो ९९ से आगे बढ़ता है और न पीछे घटता है। मेरी बीबी साहिबा को तो पूरा यक़ीन हो गया कि मेरे टी० बी० हो गई है और इसी से वे मुझे लेकर लखनऊ चली आईं।

लखनऊ में मेरा सबसे मिलना जुलना बंद कर दिया गया। दोस्त लोग आते तो उन्हें मेरी बीबी साहिबा कोई न कोई बहाना बताकर उलटे पावों लौटाल देतीं। कभी कोई बड़े बुजुर्ग आ जाते तो उनसे बड़ी अजिज़ी से कहतीं—"डाक्टरों ने थोड़ा भी बोलने के लिए मना किया है लेकिन आइए देख लीजिए।"

और वे मेरे पास थोड़ी देर भी न बैठते कि मेरी बीबी साहिबा उन्हें आरज़ू, मिन्नत करके मेरे पास से हटा ले जाती। इस प्रकार मैं एकदम टी० बी० का मरीज करार दे दिया गया और मेरी तीमारदारी भी उसी ढंग से होने लगी।

मैं भी अजीब उलझन में पड़ गया कि आखिर बात क्या है जो मेरा टेम्परेचर ९९ डिगरी से नीचे नहीं उतर रहा है। क्या दिन और क्या रात जब थरमामीटर लगाइए टेम्परेचर वही ९९ आता है। मैं इस ९९ के फेर में ऐसा फँस गया कि कुछ समझ में ही नहीं आता था कि क्या करूँ क्या न करूँ। इसी समय मुझे एकाएक अपने मित्र डाक्टर कोहली की याद आई जो मेरे साथ कालिज में था। कोहली अब लिख पढ़ कर अल्मोड़े में डाक्टरी करता था। वह खास तौर पर टी० बी० के मरीजों का ही केस लेता था और जो मरीज़ भोवाली के सेनीटोरिअम में ज्यादा हालत खराब होने के कारण नहीं लिये जाते थे वे डाक्टर कोहली का नाम सुन कर अल्मोड़े पहुँच जाते थे।

मैंने अपने डाक्टर मित्र को अपना पूरा हाल लिख भेजा और उससे प्रार्थना की कि वह जब लखनऊ आवे तो मुझसे जरूर मिल लें। ८-१० दिन में ही उसका उत्तर आ गया कि वह किसी काम से १०-१५ दिन के भीतर ही लखनऊ आ रहा है।

मेरी बीबी साहिबा को भी डाक्टर कोहली के आने का समाचार सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई लेकिन वे उसके बातूनीपन से बहुत ऊब जाती थीं। इस बार भी वह आकर कहीं मुझसे उतनी ही बातें न करे इसका डर उन्हें पहले हीं से सताने लगा। लेकिन किसी के डरने से पंजाबी भाई अपनी शोरगुल मचाने की आदत तो छोड़ नहीं देंगे। इससे वे मुझी को बार-बार ताकीद करने लगीं कि मैं डाक्टर को अपने कमरे में ज्यादा न बैठालूं। मुझे रोज अपने वायदे को दुहराना पड़ता लेकिन उन्हें जैसे किसी तरह तस्कीन ही नहीं होती थी। खैर किसी तरह वह दिन भी आ गया जब एक दिन सबेरे मुझे डाक्टर की आवाज बाहर सुनाई पड़ी और दो ही चार मिनट में वह अपना सामान बाहर के बरामदे में रख कर मेरे कमरे में दाखिल हुआ।

"ओ हो! यह क्या तमाशा बना रखा है तुमने? इस तरह से आराम से लेटने को मिले तो भाई मैं तो जिन्दगी भर बीमार बना रहूँ।" उसने कमरे में घुसते ही कहा। फिर इधर उधर देख कर बोला—"अरे भाभी नहीं दिखाई पड़ती; कहां गई इतने सबेरे! कुछ चाय वगैरह मिलेगी कि घर में सभी लोग बीमार हैं?"

मैंने उसे कुर्सी दिखाते हुए कहा—"अरे भाई बैठो तो। तुम आये नहीं कि सारे घर में भूचाल सा आ गया। हाथ मुँह तो धोलो। भाभी डाक्टर साहब के यहाँ गई हैं। आती ही होंगी।"

मैंने नौकर को पुकार कर उसका सामान कमरे में रखने और नाश्ता ठीक करने को कहा।

डाक्टर ने कहा, "मैं हाथ मुँह बाद में धो लूँगा। लाओ जब तक चाय आती है तब तक तुम्हें इक्जामिन ही कर डालूं। इस तरह चुपचाप चारपाई पर पड़े रहोगे तो टी० बी० न होगी तो हो जावेगी।"

यह कह कर पहले उसने हमारा टेम्परेचर-चार्ट गौर से देखा और फिर नौकर को पुकार कर अपना अटैची केस लाने को कहा।

"जरा टेम्परेचर देख लूँ और तुम्हारा चेस्ट इक्जामिन कर लूँ, तो तुम्हारी बीमारी का पता चले ।" मेरी तरफ देख कर उसने कहा ।

मैंने कहा—"तो मुझसे क्यों नहीं कहा ? थरमामीटर तो यही है । नौकर शायद बाहर गया है ।" और यह कह कर मैंने अपना थरमामीटर सरहाने से निकाल कर उसे दे दिया ।

डाक्टर ने थरमामीटर उतार कर मेरे मुँह में लगाया और दो तीन मिनट बाद जब उसने बाहर निकाल कर देखा तो टेम्परेचर वही ९९ था । इतने में नौकर डाक्टर का अटैची केस लाकर कमरे में रख गया ।

डाक्टर ने एस्थेटिसकोप निकाल कर मेरी छाती और पीठ की अच्छी तरह जाँच की और फिर अपने थरमामीटर से मेरा टेम्परेचर लिया । मैंने फिर टेम्परेचर जानने की कोशिश नहीं की क्योंकि पाँच ही मिनट में बिना दवा खाये सिर्फ डाक्टर के छू देने से तो टेम्परेचर डाउन नहीं हो जावेगा । डाक्टर ने भी थरमामीटर देख कर कुछ नहीं कहा और उसे धोकर उसने अपनी जेब में रख लिया ।

"अच्छा जी ! तो अब जरा हाथ मुँह धो लूँ । चाय आती ही होगी । कल शाम से कुछ खाने को नहीं मिला । पेट में चूहे ही नहीं बिल्लियाँ भी कूद रही हैं ।" यह कह कर वह गुसलखाने की ओर चला गया ।

हाथ मुँह धोकर वह जल्द हमारे कमरे में लौट आया और चाय के लिए शोर गुल मचाने लगा । इसी समय मेरी बीबी साहिबा डाक्टर के यहाँ से लौटीं । मेरे कमरे में इतना होहल्ला सुनकर वे घबराई हुई सीधे वही आ पहुँची ।

डाक्टर ने उन्हें देखते ही कहा—"नमस्ते जी ! आप ही का इन्तजार कर रहा हूँ । मारे भूख के अब जबान नहीं खुल रही हैं । यह ठहरे बीमार आदमी । आप सबेरे ही से गायब हैं और रह गया आप का नौकर । तो वह तो किसी चिड़ियाखाने में रखने काबिल है । एक घंटे से चिल्ला रहा हूँ लेकिन चाय का कहीं पता नहीं । जान पड़ता है कि चाय की पत्तियाँ

तोड़ने आसाम चला गया। अब आप ही जरा तकलीफ़ कीजिए। नहीं तो एक चारपाई मेरे लिए भी भाई साहब के बग़ल लगवानी पड़ेगी।

बीबी साहिबा ने उसे कई बार बीच में रोकने की कोशिश की लेकिन पंजाब मेल भला कहीं छोटे-मोटे स्टेशनों में रुकता है ? वे लाचार होकर चाय का इंतजाम करने चली गईं जिससे डाक्टर का मुँह किसी तरह बन्द किया जा सके। थोड़ी ही देर में मेज पर चाय आ गई और वे वहीं डाक्टर को चाय पीने के लिए बुला ले गईं।

खाने के कमरे में डाक्टर को अकेला पाकर मेरी बीबी साहिबा ने कहना शुरू किया, "डाक्टर साहब ! इन्हें यहाँ के डाक्टरों ने एकदम रेस्ट लेने को कहा है। बोलने तक की सख्त मनाही कर दी है उन लोगों ने। साथ ही साथ यह भी मुझसे कह गये हैं कि कोई दूसरा भी इनके कमरे में ज्यादा न बोले नहीं तो इनकी हालत ज्यादा खराब हो सकती है। फिर आप तो खुद ही इतने मशहूर डाक्टर हैं। आप तो सब कुछ समझते हैं। फिर भी मैंने कहा कि आप को यहाँ के डाक्टरों की राय बता दूँ।

लेकिन डाक्टर नाश्ते की सफ़ाई में इतना मशगूल था कि उसने बीबी साहिबा के समझाने पर कुछ ध्यान नहीं दिया और चाय पीने के बाद उनकी ओर मुख़ातिब हो कर कहा—"हाँ भाभी ! अब आत्मा संतुष्ट हो गई। अब आइए काम की बातें हों क्योंकि मुझको आज ही शाम को अल्मोड़े लौट जाना है।"

"तो चलिये पहले उनको ठीक से इक्जामिन तो कर लीजिए।" मेरी बीबी साहिबा ने कहा, "लेकिन परमात्मा के लिए उनके कमरे में ज्यादा शोर न मचाइयेगा।"

डाक्टर ने कहा—"मैंने आते ही उनकी अच्छी जाँच कर ली है। रोग अपनी जड़ अच्छी तरह जमा चुका है। उनको कम से कम एक साल से हलका-हलका टेम्परेचर रहता रहा होगा। लेकिन किसी को इसका पता भी न चला होगा। टेम्परेचर का साल भर से बराबर ९९ रहना बहुत ही

ज्यादा खतरनाक होता है। यह तो भीतर ही भीतर आदमी को भून डालता है और उसको इसका पता भी नहीं चलता कि वह एक दम खोखला हो गया है। मुझे अभी तक सिर्फ दो केस ऐसे मिले थे और यह तीसरा केस भाई साहब का मेरे सामने है। अब आप से छिपाना क्या। इसकी कोई दवा अभी तक ईजाद नहीं हुई है। इसमें तो 'जब तक सांसा तब तक आसा' बस इसी पर भरोसा करना चाहिए।

"अब तो जब तक साँसा तब तक आसा।"

डाक्टर कहता गया—"लेकिन आप घबड़ाएँ नहीं। मैं कोई बात उठा नहीं रखूँगा। अरे आप तो रोने लगीं। रोने से भला क्या होगा। अब तो जी कड़ा करके मेरी सब बातें आप को शांति से सुननी चाहिए।"

मेरी बीबी साहिबा ने आँसू पोछते हुए कहा—"डाक्टर साहब! आप किसी तरह इनको बचाने का उपाय करें। रुपए पैसे की कोई परवाह न करें। मैं घर बेंच कर इनकी दवा करूँगी।"

डाक्टर ने कहा—"भाभी जी आप घबड़ाएँ नहीं। सब ठीक हो जावेगा। पहले आप मेरी बात को ठंढे दिल से सुन लें। मै आप से कुछ ऐसी बातें करने जा रहा हूँ जिस पर आप क्या किसी पढ़े-लिखे आदमी को यक़ीन न आवेगा। लेकिन यदि आप मेरे साथ दस साल तक पहाड़ों और जंगलों में रही होतीं तो आप भी आज इन बातों पर मेरी तरह विश्वास करने के लिए मजबूर हो जातीं।"

"भाभी जी! मैं टी० बी० के लिए क्यों इतना मशहूर हो गया हूँ? इसका भेद कोई नहीं जानता। मैंने ऐसे-ऐसे केस अच्छे किये हैं, जिन्हें

बड़े-बड़े डाक्टरों ने १० दिन चलना ग़ैर मुमकिन बताया था। लेकिन यह सब इन अंग्रेजी दवाइयों से नहीं बल्कि अपने देश की जड़ी बूटियों से संभव हुआ। लेकिन आज पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी दवाओं और इंजेक्शनों को ही सब कुछ समझते हैं। इससे मैं भी उपर से अंग्रेजी बाना बनाये रखता हूँ। लेकिन मेरी सारी डाक्टरी अपने देश की जड़ी बूटियों पर ही चलती है।"

"अब आपसे छिपाना क्या भाभी! एक बार अल्मोड़े में एक महात्मा आये। कोई उनकी उम्र दो सौ साल तो कोई तीन सौ साल बताता था। बड़े ही सिद्ध महात्मा थे। लोगों को मिट्टी उठाकर दे देते थे तो बड़े से बड़ा रोग अच्छा हो जाता था। मैं भी उनके दर्शनों को गया और उनका चमत्कार देखकर दंग रह गया। मैं फिर घर न लौटा और उनके साथ हो लिया। उन्होंने हर तरह से पीछा छुड़ाना चाहा लेकिन मैंने अस्पताल में अपना इस्तीफा भेज दिया और तीन वर्षों तक उनके साथ बरफिस्तान में रहा। मेरी लगन देखकर वे मुझसे खुश हो गये और उन्होंने मुझे दो-चार जड़ी बूटी बताकर कहा, जा बेटा! इन जड़ी बूटियों से तेरा बड़ा यश फैलेगा और तेरे पास आकर क्षयी का कोई रोगी निराश होकर नहीं जावेगा। मैं उनसे बिदा लेकर अल्मोड़े लौट आया ओर तब से वही अपना काम करता हूँ। लेकिन भाभी जी, ऐसी टी० बी० जैसी भाई जी को हुई है उसकी कोई दवा उनके पास भी नहीं थी।"

मेरी बीबी साहिबा की आँखें फिर आँसुओं से डबडबा आईं। डाक्टर ने फिर अपनी बातों की तूफान मेल छोड़ दी। "अजी आप मेरी सब बातें तो पहले सुन लीजिए। मैं उन महात्मा को भला यूँ ही कैसे छोड़ सकता था। मैंने इसका भी उपाय उनसे पूँछा। लेकिन उन्होंने इसकी कोई दवा न बताकर एक मंत्र मुझे बताया और कहा कि उनके उस मंत्र से कोई भी आदमी रोगी का रोग अपने ऊपर ले सकता है। आपने

हिस्ट्री में पढ़ा ही होगा कि बाबर ने अपने बेटे हुमायुं का रोग अपने ऊपर इसी तरीके से ले लिया था।

"लेकिन भाभी जी, मैंने अभी किसी के ऊपर इसकी आजमाइश नहीं की क्योंकि तबसे मुझे कोई ऐसा केस ही नही मिला और फिर कौन अपनी जान देकर दूसरे की जान बचाता है।"

मेरी बीबी साहिबा ने फौरन कहा, डाक्टर "मैं तैयार हूँ। अगर मेरी जान देकर इनकी जान बच जावे तो मैं हर तरह से तैयार हूँ। आप आज ही अपने मंत्र की परीक्षा करें।"

डाक्टर ने कहा, "यह नहीं हो सकता जी। मेरे लिए तो जैसे भाई जी वैसे ही आप हैं। दो में से एक न रहेगा तो सारा घर चौपट हो जायगा। मैं अकेला आदमी हूँ। आगे नाथ न पीछे पगहा। फिर मैं डाक्टर भी हूँ और तन्दुरुस्त भी। मेरा यह रोग जल्दी कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। मैं इसे एक मुद्दत तक दवाओं के जोर से अपने शरीर में पाले रह सकता हूँ। इसके अलावा एक दोस्त के नाते मेरा भी तो कोई फर्ज है।'

बीबी साहिबा ने कहा, "नहीं डाक्टर यह किसी तरह नहीं हो सकता। आप मुझे वह मंत्र जल्दी ही बता दीजिए।"

"लेकिन अब तो जो कुछ होना था वह हो गया।" डाक्टर ने मुस्कराकर कहा, "मैंने आते ही भाई जी को देखा और उनका रोग अपने ऊपर ले लिया। मुझे खुशी है कि उन महात्मा का मंत्र सच्चा निकला। आपको यकीन न हो तो आप भी देख सकती हैं।"

यह कहकर उसने हमारा थरमामीटर अपने मुँह में लगा लिया और थोड़ी देर बाद जब उसे मुँह से बाहर निकाला तब सचमुच उसमें ९९ डिगरी टेम्परेचर निकला।

"अब आइये भाभी जी, चलकर भाई जी को भी देख लीजिए।"

डाक्टर ने कुरसी से उठते हुए कहा। और वे दोनों मेरे कमरे में आकर कुरसियों पर बैठ गये।

डाक्टर ने मेरा थरमामीटर जूठा होने की वजह से अपना थरमा-मीटर उतार कर मेरी बीबी साहिबा को दिया और मेरा टेम्परेचर लेने को कहा।

मेरी बीबी साहिबा ने कांपते हुए हाथों से मेरे मुँह में थरमामीटर लगा दिया। दो तीन मिनट गुजरने के बाद डाक्टर ने कहा, "अब भग-वान का नाम लेकर देखिए तो कितना टेम्परेचर है ?"

बीबी साहिबा ने थरमामीटर निकाल कर देखा तो टेम्परेचर एक दम नारमल था। मारे खुशी के उनकी आँखों से आँसू निकल पड़े। उन्होंने बड़ी कृतज्ञता की दृष्टि से डाक्टर की ओर देखा।

डाक्टर उठकर जब कमरे में कपड़े बदलने चला गया तो मेरी बीबी साहिबा ने मुझ से सारी बातें बताकर कहा, "यह आदमी नहीं देवता है। ऐसे सच्चे दोस्त भला किसको नसीब होते हैं और वह तब तक उसी का गुणगान करती रहीं जब तक वह कपड़े बदलकर मेरे कमरे में वापस नहीं आ गया।

डाक्टर ने आते ही मुझे खींच कर चारपाई से बाहर किया और बोला, "उठो जी ! तुमको भी खामख्वाह बीमार बनने का शौक है। इतनी अच्छी बीबी पा गये हो इसी से दिन भर चारपाई पर आराम करना सूझता है। जाओ जल्दी कपड़े बदल कर तैयार हो जाओ। आज बाहर किसी बढ़िया होटल में भाभी जी ने दावत खिलाने को कहा है। अल-मोड़े में पहाड़ियों के हाथ का कच्चा पक्का खाना खाते-खाते जी भर गया। फिर भाभी की तरह कोई होशियार घरवाली भी तो नहीं मिली कि खूब बढ़िया-बढ़िया खाना पकाकर खिलाया करती।"

मैं चुपचाप उसके हुक्म के मुताबिक कपड़े बदलने चला गया। दो

महीने से चारपाई पर लेटे-लेटे जी ऊब गया था। चारपाई से उतरा तो जान पड़ा जैसे शरीर में नया जीवन आ गया है।

हम लोग दोपहर में हज़रतगंज के एक नये रेस्तराँ में खाना खाने गये। वहाँ से बाहर निकल कर डाक्टर ने कहा "भाभी जी! आज बहुत दिनों के बाद पेट भर कर खाना मिला है। आज की दावत के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद, भगवान करे जल्दी ही इसी तरह की दावत हो और मैं नये मुन्ने के लिए अलमोड़े से खिलौने लेकर मुबारकबाद देने आऊँ।"

बीबी साहिबा ने शरमा कर सिर झुका लिया लेकिन उनकी आँखें अनुग्रह के भार से पहले से ही झुकी हुई थीं।

डाक्टर अपने मित्रों से मिलने के लिए शाम तक की छुट्टी मांग कर एक ओर चला गया और हम लोग अपने घर लौट आये।

शाम होते ही डाक्टर वापस आया और अपना सामान वगैरह ठीक करने लगा। मेरी बीबी साहिबा ने उसे दो एक दिन और रोकना चाहा लेकिन वह किसी तरह राजी न हुआ क्योंकि उसे कुछ मरीजों को दूसरे ही दिन इन्जेक्शन देने थे।

हम लोग उसे पहुँचाने स्टेशन तक आये। जब ट्रेन छूटने लगी तब उसने एक बंद लिफ़ाफ़ा मेरी बीबी साहिबा को देकर कहा, "भाभी जी, इसे घर पर इतमीनान से पढ़िएगा। इसमें आप के लिए और भाई जी के लिए कुछ जरूरी बातें नोट कर दी हैं।"

घर आकर बीबी साहिबा ने लिफ़ाफ़ा खोला तो उससे जो पत्र निकला वह इस प्रकार है:—

श्रीमती भाभी जी,

नमस्ते,

मुझे बहुत अफ़सोस है कि आज आपसे बहुत झूठ बोलना पड़ा लेकिन बिना झूठ बोले न तो मजा ही आता और न मजेदार दावत ही

मिलती। दर असल भाई जी को कोई बीमारी नहीं थी। वह तो बस निन्नानबे के फेर में पड़ गये थे। आपके पास जो जापानी थरमामीटर है, वही उनकी बीमारी का जिम्मेदार है। उसे आप चाहे जिसे लगा कर देख लीजिए, हमेशा नारमल की जगह उसमें ९९ डिगरी ही आयेगा। मैंने सबेरे ही इसकी जाँच कर ली थी और भाई जी का टेम्परेचर भी अपने थरमामीटर से नारमल पा लिया था लेकिन चूंकि आप दवाइयों और डाक्टरों के चक्कर में बहुत ज्यादा रहती हैं इससे मुझे मजाक करने की सूझी और मैंने आप से योगी महात्मा और मंत्र के किस्से गढ़ कर सुना दिये और आपके थरमामीटर से अपना टेम्परेचर ९९ और अपने थरमामीटर से भाई जी का टेम्परेचर नारमल दिखा कर अपनी बात पर आपको विश्वास करा दिया।

इस मजाक के लिए माफ़ी चाहता हूं लेकिन नये मुर्गे की बात मजाक नहीं है क्योंकि उसके लिए भाई जी खुद ही मंत्र जानते हैं।

आपका

डाक्टर

पत्र पढ़ कर मेरी बीबी साहिबा ने उसे मेरे ऊपर फेंक कर कहा, "बड़ा शैतान है। इस बार आयेगा तो इसका बदला लूंगी।"

और उस दिन से मुझे बीमारी से और बीबी साहिबा को डाक्टरी से छुट्टी मिल गई।

राजा रईस तो अब रहे नही लेकिन उनकी कहानियां अभी कुछ दिनों तक जरूर रहेंगी। लोग भले ही उन्हे भूल जावें लेकिन उनके नौकरों के दिलो मे उनकी याद जिन्दगी भर क़ायम रहेगी।

कुछ लोगों का कहना है कि रईसों के नौकर बड़े नमक हराम होते हैं और उन्ही की वजह से राज-रियासतों में गधों के हल चल गये लेकिन इन खुदा के बन्दों को कौन समझावे कि रुपया पैसा तो हाथ का मैल है और राज-पाट आना-जाना तो किस्मत का खेल है। पुराने जमाने में कौन ऐसा राजा बचा था जिसका राज पाट कुछ दिनों के लिए नही छिन गया, लेकिन इससे कौन उनके नोकरों को हरामखोर कहता है या उसकी जिम्मेदारी उनके ऊपर डालता है।

कहने को तो कोई कुछ कह सकता है लेकिन राजा रईसों की नौकरी

करना हँसी खेल नहीं है। सरकारी नौकरी में दस बजे कंघी चोटी करके दफ्तर पहुँचे तो कुरसी पर आराम से बैठ गये। बिजली का पंखा चल रहा है। खस की टट्टी लगी हुई है, इतने पर भी एक बजे चाय पीने की छुट्टी न मिल जावे तो आँखों के आगे तितलियाँ उड़ने लगें। दो बजे से पाँच बजे तक फिर उसी कुरसी पर ऊँघ कर और दुम झाड़ कर अपने घर चले आये, फिर न किसी से मतलब न किसी से वास्ता। चाहे शाम को बाजार घूमें चाहे सेनिमा देखें, किसी के बाबा का कोई इजारा नहीं। लेकिन ताल्लुकदारों के यहाँ तो सिर्फ दिन की नहीं बल्कि दिन और रात दोनों की नौकरी बजानी पड़ती है। जब भी मालिक की तलबी होती है फ़ौरन हाजिर होना पड़ता है। चाहे रात हो या दिन, चाहे ओले पड़ते हों या तूफ़ान चलता हो और वहाँ पहुँच कर जिस सिलसिले की बातें हो रही हैं उसी में मालिक की हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है। बातें चाहे मोटर के बारे में हो रही हों चाहे हवाई जहाज की। चर्चा चाहे नरगिस की चल रही हो चाहे रेहाना की।

वहाँ सिर्फ़ टाइपराइटर से खुट्टर-पुट्टर कर देने से ही काम नहीं चल सकता। वहाँ तो आदमी को हर मजमून पर कुछ न कुछ दखल रखना जरूरी है नहीं तो आप वहाँ एक घंटे भी नहीं ठहर सकते। वहाँ आदमी की अपनी कोई राय नहीं रह जाती बल्कि उसे मालिक का मुंह देख कर ही अपनी जबान खोलनी पड़ती है। उसे अपने को एक दम मालिक में मिला देना पड़ता है। दफ्तर के बाबू वहाँ एक दिन भी रह जावें तो उनका कचूमर निकल जावे।

मेरे चचा छुईखदान के महराज के यहाँ बहुत दिनों से नौकर थे। उन्हीं की शिफ़ारिश से मुझे भी एक राजा साहब के यहाँ नौकरी मिल गई। दस साल उनकी खिदमत करके जब जिमीदारी खतम हो गई तो अपने घर वापस आ गया हूँ। लोगों का तो यह ख्याल है कि मैं वहाँ से लाखों रुपये कमा लाया हूँ लेकिन आप सच मानिये, सिवा इस तिजोरी के

जो मेरे मकान के सामने नीम के नीचे पड़ी है और जिस पर दिन भर लड़के उछल कूद मचाया करते हैं, अगर एक झंझी कौड़ी भी वहाँ से मेरे साथ आई हो तो हराम है। चलते समय अगर राजा साहब टिकट न कटा देते तो घर पहुंच पाता या नहीं इसमें भी शक है।

लेकिन आप कहेंगे कि फिर आख़िर यह तिजोरी यहाँ क्यों आई और आई भी तो इसे मैंने इस बेएहतियाती से मकान के बाहर खुले में क्यों फिकवा रखा है। सुनिए उसका भी भेद बता रहा हूँ। इस तिजोरी को राजा साहब ने मुझे एक तोहफ़े के तौर पर दिया है और अपने खर्च से इसे भी यहाँ तक भिजवा दिया है। राजा साहब की यही एक यादगार मेरे पास है। इसलिए इसका रखना भी ज़रूरी हो गया है लेकिन इसे घर के भीतर इसलिए रखना नहीं चाहता कि अव्वल तो मेरे पास इस तिजोरी में रखने लायक़ कोई सामान ही नहीं है फिर अगर इसमें चटनी अचार या बिल्ली से बचाने के लिए दूध रखने का भी फ़ैसला करूँ तो दिक्क़त यह है कि तिजोरी नंबरों वाली है और उसके नंबर मुझे क्या इसके मालिक राजा साहब तक को नहीं मालूम हैं।

फिर आख़िर ऐसी तिजोरी राजा साहब ने मुझे क्यों दी? आप यह जानना चाहेंगे। लेकिन इसका मैं क्या जवाब दे सकता हूँ। रईसों के हर बात के मानी थोड़े ही होते हैं। यह तो उनकी गुरबापरवरी है कि उन्होंने याद किया और एक चीज तोहफ़े के तौर पर भेज दी। अब अगर मैं उसे इस्तेमाल में नहीं ला सकता तो यह हमारी नालायक़ी ही कही जावेगी। लेकिन आप फिर कहेंगे कि माना कि तिजोरी न खुलने की वजह से बिल्कुल बेकाम है तो भी उसे इस तरह बाहर फेंकना तो ठीक नहीं है। उसे एक कमरे के किसी कोने में रखवा देने में क्या हर्ज था। कुछ नहीं तो घर की खूबसूरती ही बढ़ाती। आपका कहना सही है। अगर मैं इस तिजोरी का हाल न जानता होता तो मैं जरूर वैसा ही करता जैसा आप फ़रमा रहे हैं लेकिन सब कुछ जानने के बाद मैं तो उसे घर के भीतर

आने ही नहीं दे सकता और साथ ही साथ मुझे यकीन है कि पूरा हाल सुन लेने पर आप भी मेरी ही राय के हो जावेंगे और मुझे इस तिजोरी को अपने घर की खूबसूरती बढ़ाने के लिए इसरार न करेंगे।

किस्मा यूँ है कि जब मैं राजा साहब के यहाँ नौकर होकर पहुँचा तो जैसा क़ायदा है पहले वहाँ के सब नौकरों ने मुझे लुहलुहा लिया लेकिन राजा साहब ऐसे हरदिल अज़ीज़ निकले कि चन्द ही दिनों में वे मेरी क़दर जान गये। थोड़े ही दिनों में मैं उनकी नाक का बाल हो गया और अगर मैं एक दिन के लिए भी कहीं चला जाता तो वे बेचैन हो उठते। मेरा भी जी वहां लग गया और मैं भी वहीं जम गया।

राजा साहब अभी कम ही उम्र के थे इससे उनकी रियासत कोर्ट आफ़ वार्ड्स के मातहत थी। कोरट की ओर से उनके जो मैनेजर तैनात हुए थे वे भीमसेन की नसल के थे। पता नहीं कोरट वालों को क्या मजाक सूझा कि एक गुनहने से बचने के लिए चालीस घोड़े की ताकत का हाथीनुमा मैनेजर पसंद किया था। खैर जो हो इन धरतीधमक मैनेजर से किसी से नहीं पटती थी क्योंकि वे दिन भर हर एक के काम में रोड़ा ही अटकाया करते थे। अगर राजा साहब किसी को कोई चीज़ खुशी से देना चाहते तो मैनेजर साहब ऐसी तरकीब निकालते कि वह चीज उसे कभी न मिलती। मुझे भी मैनेजर साहब की इस आदत का कभी-कभी शिकार होना पड़ता था लेकिन किसी न किसी तरह वक्त कटा जा रहा था।

चालीस घोड़े की ताकत का हाथीनुमा मैनेजर

राजा साहब के कमरे में यह नंबरोंवाली तिजोरी एक दीवाल में बहुत दिनों से लगी थी। इसको खोलने के लिए जो नम्बर मुकर्रर थे वे सिर्फ राजा साहब के मरहूम वालिद साहब ही जानते थे। उनकी मौत ऐसी अचानक हुई कि वे किसी को उसके खोलने वाले नम्बर न बता पाये और तब से तिजोरी ज्यों-की-त्यों बंद पड़ी थी। यह तो सब लोग जानते थे कि उस तिजोरी में कुछ था नहीं क्योंकि बड़े राजा साहब के सामने वह रोज ही खुलती बंद होती रहती थी लेकिन उसमें कुछ हो या न हो फिर भी वह कमरे की एक दीवाल तो घेरे ही थी। राजा साहब ने कई कंपनियों को लिखा लेकिन किसी को भी उसके खोलने में कामयाबी न मिली। आखिरकार यह तै हुआ कि उस तिजोरी को वहाँ से खोद कर निकाल लिया जावे और उसकी जगह दूसरी नई तिजोरी लगा दी जावे। लिहाजा थोड़े ही दिनों में एक नई तिजोरी वहाँ लगा दी गई और वह नम्बरोंवाली तिजोरी वहाँ से हटा दी गई।

मुझे पता नहीं उस तिजोरी की बनावट क्यों इतनी पसंद आ गई कि मैं उसे राजा साहब से माँग ही तो बैठा। मैंने सोचा कि यहाँ तो यह रद्दी करके अलहदा ही कर दी गई है। अगर इसे राजा साहब ने दे दिया तो अपने घर भिजवा दूँगा। वहाँ लखनऊ में शायद कोई कारीगर मिल ही जावे जो इसे खोल दे, और इसे ठीक कर दे। फिर राजा साहब के लिए तो यह हर तरह से बेकार ही है इससे उसके न देने का भी कोई सवाल मेरे खयाल से न उठेगा। और मैनेजर साहब को भी इसमें कोई एतराज न होगा। लेकिन मैनेजर साहब तो अपनी आदत से मजबूर। उन्हें तो राजा साहब के सामने खामखाह अपनी खैरख्वाही दिखाने का खब्त सा था। वे भला ऐसा मौक़ा कैसे हाथ से जाने देते। मेरी बात सुनते ही उन्होंने कहा, 'आप क्या कीजियेगा उसको?"

राजा साहब ने कहा, "कुछ भी करेंगे। जब हमारे लिए वह एकदम बेकार ही है तो उसे देने में हर्ज ही क्या है?"

मैंनेजर साहब ने राजा साहब का रुख मेरी ओर देखा तो बोले, "अभी कैसे कहा जावे कि यह हमारे लिए एकदम बेकार ही हो गई है। अभी तो कई कंपनियों के जवाब आने बाकी हैं। माना आज उसका नम्बर नहीं मिल रहा है, लेकिन क्या वह कभी खुलेगी ही नहीं ? इतनी कीमती तिजोरी, जिसे आपके पिता जी ने बम्बई से मँगाया था, क्या नम्बर खो जाने की वजह से फेंक दी जानी चाहिए। वैसे आपकी चीज़ है, बीच में बोलनेवाला मैं कौन हूँ। लेकिन अपना फ़र्ज़ है इसलिए कहना ही पड़ता है, नहीं तो आज कल के नौकर मालिक का नफ़ा नुक्सान थोड़े ही देखते हैं।" फिर मेरी तरफ़ मुखातिब होकर आप कहने लगे, "क्यों साहब, क्या आपका काम बिना तिजोरी के दो-चार दिन भी नहीं चल सकता ? इतने ही दिनों में क्या कमाई हो गई जो तिजोरी की ज़रूरत पड़ गई ? आप थोड़े दिन की मुझे मोहलत दे दीजिए तो मैं आपके लिए दूसरी नई तिजोरी मँगवा दूँ।"

मैं कहता तो क्या कहता। खामोश रहना ही बेहतर था। राजा साहब भी खीज उठे लेकिन एखलाकन कुछ बोले नहीं और धीरे-धीरे टहलते हुए महल के भीतर चले गये। उनके चले जाने पर मैंनेजर साहब ने अपना लाउड स्पीकर खोल दिया। सब को सुना-सुना कर कहने लगे, "सुना साहब आपने ! हम लोगों को तो यहाँ रहते हुए एक मुद्दत हो गई लेकिन एक पाई भी जमा न कर सके लेकिन यहाँ लोग कल ही आये और आज ही उन्हें तिजोरी की ज़रूरत पड़ गई।"

फिर मेरी तरफ़ मुड़कर बोले, "आप बुरा न मानियेगा। ज्यादा रुपया हो गया है तो खज़ाने में जमा करवा दीजिये। मैं आपके लिए नई तिजोरी का आज ही आर्डर कर रहा हूँ लेकिन भाई इस तिजोरी के लिए मुझे माफ़ कीजिए। यह बड़े राजा साहब की यादगार है, वे इसको बहुत ज्यादा प्यार करते थे। इससे इसको तो मैं यहाँ से जाने न दूँगा नहीं तो लोग मुझको क्या कहेंगे। और एक बात आगे के लिए भी

सुन लीजिए कि अभी राजा साहब बच्चे ही हैं। उन्हें इस तरह फुसलाना ठीक नहीं है। अगर अपनी तरफ़ से भी कोई चीज़ आपको दें तो भी आपको इन्कार कर देना चाहिए। वे बड़े हो जावें तो फिर न आप ही कहीं भागे जाते हैं और न मैं ही। फिर जो चीज वे दें आप शौक से लें। न मैं ही कुछ कहूँगा और न दूसरा ही कुछ कह सकता है। आप मेरा मतलब समझ गये न? यह आपके ही फ़ायदे के लिए कह रहा हूँ। नहीं तो दुनियाँ हम लोगों पर ही थूकेगी। आदमी जिसका नमक खाता है उसका हक़ अदा करना तो उसका फ़र्ज ही है। समझे आप?"

मैं उनके लेक्चर से ऊब गया था। इससे बिना कुछ कहे चुपचाप अपने घर की ओर चला तो आप मुझे सुना कर दूसरे नौकरों से कहने लगे, "क्या बताऊँ साहब, ऐसे-ऐसे शरीफ़जादों से पाला पड़ा है कि दिन भर इतनी निगहबानी न करूँ तो ये लोग राजा साहब का कुरता पैजामा तक उतरवा लें।"

फिर सिपाहियों से और बुलन्द आवाज से बोले, "ज़रा तिजोरी को मेरी कोठी पर आज ही पहुचा दो। न खुलेगी तो क्या, इससे कमरे की खूबसूरती तो बढ़ेगी। कुछ न होगा तो लोग यह तो समझने ही लगेंगे कि इसमें कीमती चीजें भरी हुई हैं।

और वह तिजोरी उसी दिन महल से उठकर मैनेजर साहब की कोठी पहुँच गई। मैनेजर साहब अपनी इस कामयाबी की चरचा कई दिनों तक लोगों से करते रहे। वे मुझे जब देखते तो मुसकुरा कर अपनी जीत का इजहार कर देते। इस तरह तिजोरी की बात वहीं खतम हो गई।

इस वाक़ये को हुए ज्यादा दिन नहीं बीते थे कि एक रात मैनेजर साहब की कोठी पर डाका पड़ा। डाके वाले मामूली ही थे, और उनकी तादाद भी ८—१० से ज्यादा नहीं थी लेकिन मैनेजर साहब की कोठी महल से दूर ऐसी सुनसान जगह में थी कि उन लोगों को डाका डालने की हिम्मत पड़ ही गई। उन लोगों ने आँगन में सोनेवाले सिपाही की

मुश्कें बाँध कर डाल दिया और मैनेजर साहब के कमरे में दाखिल हुए तो क्या देखते हैं कि मैनेजर साहब कुम्भकरण की तरह गहरी नींद में खर्राटे भर रहे हैं। डाकुओं ने उनके ऊपर बल्लम तान कर उन्हें जगाने के लिए खोदा तो आप समझे कि शायद राजा साहब के यहाँ से बुलाहट हुई है। आप बिना आँख खोले नींद ही में बोले, "बड़ी आफत है। एक दिन भी सोने को नहीं मिलता। जाओ कह दो कि घर में नहीं हैं।" इतना कहकर आप करवट बदल कर फिर खर्राटे भरने लगे।

डाकुओं ने उन्हें फिर दुबारा खोदा तो आप बहुत झुंझला कर बोले, "ऐसी नौकरी की ऐसी-तैसी। सोना हराम कर दिया। आज ही चलकर इस्तीफा......" और जैसे ही आँख खोल कर उठने को हुए कि चारों ओर बल्लम तने हुए देखकर उनकी फूँक सरक गई। वे धम से चारपाई पर गिर पड़े और घबराकर आँखें फाड़-फाड़कर डाकुओं की ओर देखने लगे, डाकुओं ने उन्हें वहीं चुपचाप लेटे रहने को कहा, और दो को उनके पहरे पर छोड़कर वे लोग घर में तलाशी लेने लगे।

खैरियत यही थी कि मैनेजराइन साहिबा अपने मायके प्रयाग गई थीं और जेवर वगैरह सब उन्हीं के साथ चले गये थे। डाकुओं ने जब कुछ न पाया तो वे फिर मैनेजर साहब के कमरे में आये और उनके कमरे की तलाशी लेने लगे। कमरे में उनकी निगाह जब तिजोरी पर पड़ी तो उन्होंने मैनेजर साहब से उसे खोलने को कहा।

मैनेजर साहब थे तो पुरबिहा ठाकुर। दिन भर भड़भड़ाने वाले और बात-बात पर मेज पर हाथ पटकनेवाले लेकिन डाकुओं के आगे सारा कोर्ट आफ वार्डस मैनुअल भूल गया। उनका गला सूख गया और जबान तालू से चिपक गई। बहुत कोशिश करने पर भी उनके मुँह से एक भी शब्द न निकला। उन्हें इस तरह चुप देखकर एक डाकू ने उनकी तोंद पर बल्लम अड़ा कर कहा, "जल्द तिजोरी की चाभी दो नहीं तो बल्लम पेट के आर पार हो जायेगा।"

मैनेजर साहब का जी बैठ गया। उनकी कांपती हुई जबान से केवल इतना ही निकला, "साहब यह तिजोरी ताली से नहीं नम्बरों से खुलती है।"

"तो नम्बर ही बताओ!" दूसरे डाकू ने डपटकर कहा।

मैनेजर साहब सोचने लगे कि अब क्या किया जावे। नम्बर तो वे भी तिजोरी का नहीं जानते थे। इतने में तीसरे डाकू ने उन्हें चुप देखकर कहा, "उठकर तिजोरी खोलना है कि घुसेड़ूँ बल्लम।"

मैनेजर साहब घबरा गये। उन्होंने जल्द ही जवाब दिया, "साहब इसका नम्बर तो मुझे नहीं मालूम है।"

डाकुओं के सरदार ने कहा, "हमको उल्लू बनाना चाहता है। अपने घर की तिजोरी का नम्बर इसे नहीं मालूम है। लात के देवता बात से नहीं मानते। यह ऐसे नहीं बतावेगा। इसके बाद चारों ओर से पहले तो उन पर गालियों और धमकियों की बौछार हुई और फिर चलने लगी बेभाव की। जब मार बरदाश्त के बाहर हो जाती तो मैनेजर साहब हाथ जोड़कर कहते, "रुकिए साहब बताता हूँ।" लेकिन बेचारे बताते तो क्या बताते। लाचार चुप हो जाते। उन्हें चुप देखकर उन पर पहले से तेज मार पड़ती। और जब तक वे फिर हाथ जोड़कर बताने का वायदा न करते मार बंद न होती। इस प्रकार उन पर कई लहरें बरस गये। लेकिन मैनेजर साहब कैसे कहते कि तिजोरी को वे सिर्फ अपने कमरे की खूबसूरती बढ़ाने के लिए रखे हुए हैं और कहते भी तो कौन उनकी यह बात ही मान लेता।

उधर डाकू लोग यह सोचते थे कि अगर इस बार पीटने में कमी न होती तो नंबर जरूर बता देता। इससे वे दुबारा उनको और ज़ोर से पीटते। मैं कह नहीं सकता कि मैनेजर साहब को उस वक्त मेरी याद आई या नहीं लेकिन इतना जरूर सोचता हूँ कि उन्होंने भगवान

को जरूर पुकारा, नहीं तो वे ऐसी मुसीबत में फंस गये थे कि उससे छुटकारा पाना आसान नहीं था।

डाकू लोग भी उन्हें पीटते-पीटते थक गये थे। आखिरकार आजिज आकर सरदार ने कहा, "बड़ा घुटा है साला, यह ऐसे नहीं बतावेगा। जाओ सलाख गरम करके लाओ और इसे दागो तभी यह नम्बर बतावेगा।" सरदार का हुकुम पाकर दो डाकू आँगन की ओर आग की तलाश में गये लेकिन वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि चौकीदार का कहीं पता नहीं है।

उन लोगों ने लौटकर चौकीदार के भागने का समाचार ज्यों ही अपने साथियों को बताया त्यों ही सब डाकू मैनेजर साहब को छोड़कर नौ दो ग्यारह हो गए।

डाके की खबर पाकर जब हम लोग शोर मचाते हुए उनके यहाँ पहुँचे तो डाकू चले जा चुके थे और मैनेजर साहब भीगी बिल्ली बने हुए चारपाई पर पड़े थे। दूसरे ही दिन उन्होंने तिजोरी उठवाकर महल में पहुँचा दी क्योंकि उनका तिजोरी रखने का शौक पूरा हो चुका था और वह उनके कमरे की काफी शोभा भी बढ़ा चुकी थी।

और अब यह इतने दिनों बाद राजा साहब के तोहफ़े की शक्ल में हमारे यहाँ पहुँच गई है लेकिन इससे अपने कमरे की खूबसूरती बढ़ाने की हिम्मत मुझमें नहीं है।
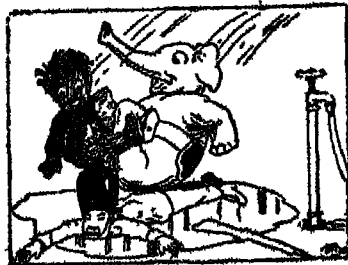
मिर्जा मेंहदी के आगे किसी शहर या कस्बे का नाम भर लीजिए कि वे आपको अपने रिश्तेदारों की फेहरिस्त सुनाने लगेंगे। किसी शहर में उनके खास खालूजात भाई रहते हैं तो किसी में उनकी मामूजाद बहिन ब्याही हैं। कहीं उनकी फुरेरी बहिन की ममानी रहती हैं तो कहीं उनके खास चचेरे भाई के हमजुल्फ़ का दो पाई का हिस्सा है। बहरहाल कोई सीग़ा ऐसा नहीं जहाँ उनके रिश्तेदार न हों और कोई ऐसा पेंसन याफ्ता सरकारी मुलाजिम नहीं जिससे उनका कोई न कोई रिश्ता न निकल आता हो। आपकी जबान से किसी शहर या कस्बे का नाम निकलने भर की देर है फिर आपकी बात तो पीछे रह जावेगी और आपको बिला उज्र उनका पूरा कुरसीनामा सुनने के लिए मजबूर हो जाना पड़ेगा।

मिर्जा मेंहदी वैसे ख़ान्दानी आदमी हैं। एक ज़माना था जब उनके बुजुर्गों की शाही दरबार में काफ़ी इज्जत थी लेकिन जब शाह ही लखनऊ से मटिया बुर्ज भेज दिये गये तो न वह दरबार ही रहा और न वे दरबारी ही बचे। अब तो जो कुछ इज्जत बाकी रह गई थी उसी को बचाने की फ़िक्र सब को लगी थी। बुजुर्गों की जो कुछ भी जायदाद थी वह धीरे-धीरे सब ख़तम हो गई। अब तो उनके नाम का लखनऊ में एक मकान भर है जो उनकी फूफी के चंगुल में इस बुरी तरह फँसा हुआ है कि उसका होना न होना मिरज़ा मेंहदी के लिए बराबर ही है।

बात यह है कि मिरज़ा मेंहदी की फूफी मुग़ल जान इस कदर की झगड़ालू व'कय हुई हैं कि किसी का भी उनके साथ दो चार दिन भी निबाह होना गैर मुमकिन है। जब मिरज़ा मेंहदी के वालिद बड़े मिरजा जिन्दा थे और उन्हें कभी लखनऊ जाना होता था, तो या तो वे किसी सराय में ठहर जाते थे या किसी दोस्त के यहाँ दो चार दिन काट लेते थे लेकिन उनकी यह हिम्मत न थी कि अपनी बड़ी बहिन के साथ रह सकें।

जब बड़े मिरजा का यह हाल था तो बेचारे मिरजा मेंहदी की यह जुर्रत कहाँ कि मुगल जान के साथ अपनी कोठी में ठहरें। लिहाज़ा यह भी जब लखनऊ गये तो किसी होटल में ठहर गये लेकिन अपनी कोठी की ओर न गये तो न गये। कोठी से अगर इन्हें कुछ वास्ता था तो इतना ही कि साल में एक दो बार मुग़ल जान का मरम्मत के लिए तकाज़ा आता था और ये चुपके से उनके पास रुपये भिजवा देते थे।

फूफी साहिबा ने कोठी की ऐसी हालत बना रखी थी कि उसे देखकर यह एहसास ही नहीं होता था कि इसमें कोई भला आदमी रहता है। मरम्मत के जो रुपये उन्हें मिरज़ा मेंहदी भेजते थे वे सीधे उनकी संदूक़ची में चले जाते थे। इसके अलावा तमाम सारापेशे की कोठरियों को किराये पर उठा कर वह एक अच्छी खासी रक़म भी वसूल कर लेती थीं।

केरायेदारों ने कोठरियों में सड़क की ओर दरवाज़े फोड़-फोड़ कर अपनी दूकानें बना ली थीं और सड़क की तरफ़ वाली सारी की सारी दीवाल टीन और छप्पर रखकर पान वाले, नानबाई, जूते वाले, और परचून वालों की दूकानों में तबदील हो गई थीं।

हाते को भी मुग़लजान ने खाली नहीं छोड़ा था। एक ओर लकड़ी वाले ने टाल लगा रखा था तो दूसरी ओर किसी कबाड़िये ने दुनिया भर की टूटी-फूटी चीज़ें लाकर इकट्ठी कर रखी थीं और उसी के बीच मिरज़ा मेंहदी की कोठी बत्तीसों दाँत निकाले नगी बूची खंडहर की शक्ल में खड़ी अपनी किस्मत को रो रही थी। उसके सामने के दरवाज़े में एक टाट का पुराना परदा लटका करता था और सामने के दालान में दो एक टूटी चारपाइयाँ पड़ी रहती थीं जिन पर मुहल्ले भर के कुत्ते पारी-पारी से आ-आ कर लोट-पोट जाया करते थे।

कोठी का सदर दरवाज़ा हमेशा बंद ही रहता था क्योंकि मुगलजान ऊपर के कमरों में रहती थीं और उनके पास एक ही ख़ादिमा थी जिसको खाना पकाने से लेकर बाज़ार से सौदा-सुलुफ़ लाने तक का काम अकेले ही करना पड़ता था।

मिर्ज़ा मेंहदी की उम्र ढलने को आई लेकिन यह तमन्ना दिल ही में रह गई कि कुछ दिन चलकर लखनऊ में अपनी कोठी में रहें। बच्चे बढ़ कर बालिग़ हो गये लेकिन शहर में तालीम के लिए न भेजे जा सके क्योंकि वहाँ उनके रहने के लिए जगह न थी और बेगम साहिबा कोसते-कोसते बूढ़ी हो चलीं लेकिन फूफी साहिबा जैसे मौत से लड़ कर आई थीं कि इस दुनिया से खिसकने का नाम ही न लेती थीं।

खैर जैसे तैसे करके दिन गुज़रते जाते थे कि एक दिन अचानक यह खबर आई कि फूफी साहिबा इस बार मौत को धोखा न दे सकीं और उन्हें सब को रोता-कलपता छोड़ कर इस दुनियाँ से कूच करना ही पड़ा। मिर्ज़ा ने सुना तो बेअख्तियार रो पड़े। आठ दस साल से उनसे मुलाक़ात

नहीं हुई थी इससे जी और भी भर-भर आता था। न जाने किस मुसीबत में बेचारी ने आख़िरी वक़्त काटे होंगे। मरते-मरते मर गई लेकिन किसी घर वाले को खबर तक न दी। काश दो चार दिन उनकी ख़िदमत करने का मौका मिल जाता। लेकिन अब तो सिवा पछताने के और कुछ भी हाथ नहीं आ सकता।

लेकिन बेगम को यह खबर सुन कर इतनी खुशी हुई कि वे उसे छिपा न सकीं। बोलीं, "मैं तो समझे थी कि बुढ़िया हम लोगों को दफ़नाने के बाद मरेगी, लेकिन लोग सही कहते हैं कि खुदा के यहाँ देर है, अंधेर नहीं।

मिर्ज़ा को बेगम की बात बहुत बेमौक़ा लगी लेकिन उन्होंने कुछ कहा नहीं। वे इस समय दूसरी ही दुनियाँ में थे। उन्हें सचमुच इस बात का बहुत अफ़सोस था कि वे आख़िरी वक़्त अपनी फूफी के पास मौजूद न रह सके। लोग न जाने क्या-क्या सोचेंगे और वे अकेले किसको-किसको सफ़ाई देते फिरेंगे कि उन्हें फूफी की बीमारी की कुछ भी खबर नहीं थी।

ख़ैर जैसे तैसे अपने को संभाल कर उन्होंने जल्दी-जल्दी लखनऊ जाने की तैयारी करली क्योंकि अगर वे इसी सबेरे की गाड़ी से नहीं चले जाते तो मिट्टी में भी शरीक न हो सकेंगे। इसलिए उन्हें मजबूरन अपने दिल को समझाना पड़ा। वे जल्दी-जल्दी जैसे ही अपना सामान वग़ैरह बाँध कर बाहर निकले कि घर की पालतू काली बिल्ली रास्ता काट गई।

मिर्ज़ा साहब इन टोटकों में बहुत ज्यादा यक़ीन करते थे। घर से चलते वक़्त अगर कोई काना मिल गया या कोई ख़ाली घड़ा लेकर सामने से गुज़र गया तो फिर चाहे कितना ही जरूरी काम क्यों न हो वे उस समय वहाँ न जावेंगे। इस वक़्त बिल्ली का रास्ता काट जाना उन्हें बहुत बुरा लगा। वे एक ठंडी सांस लेकर आराम कुरसी पर लेट गये। बेगम

ने उन्हें कुर्सी पर लेटे देखा तो पूछा, "कहिये क्या हो गया ? क्या अब न जाइएगा क्या ?"

"जाऊँगा क्यों नही !" मिरज़ा ने कहा, "लेकिन इस हरामज़ादी बिल्ली के मारे जाने तो पाऊँ। मै कही भी जाने को तैयार होता हूँ कि यह अदबदा कर मेरा रास्ता काट जाती है। इसके मारे तो घर मे रहना मुश्किल हो गया है।"

"आप खामखाह इस बिल्ली के पीछे पड़े है," बेगम ने कहा, "एक नहीं हजार बार कह चुकी कि पालतू बिल्लियो का रास्ता काटना नही माना जाता लेकिन आप के वहम की तो कोई दवा ही नहीं है। फिर आप इस वक्त कहाँ जा रहे है वहाँ बदशगूनी का क्या खयाल करना है। क्या बिल्ली के रास्ता काटने से आप को यह डर लग रहा है कि कहीं आप की फूफी जान फिर न जिन्दा हो जावें। मुझे तो डर सिर्फ़ इस बात का है कि कहीं बदशगूनी मिटाने में आप की गाड़ी न छूट जावे।"

मिरज़ा को बेगम की बात ज़रा भी अच्छी नही लग रही थी, लेकिन गाड़ी छूटने की बात सुनते ही वे चौंक पड़े और उठकर स्टेशन की ओर भागे। स्टेशन ज्यादा दूर नहीं था लेकिन ट्रेन भी लेट होने की आदी नही थी, न उसे अपनी फूफी की मिट्टी ही देनी थी। इससे वह वक्त से आई और वक्त से चली गई और मिर्ज़ा मेंहदी बेचारे स्टेशन तक भी न पहुँच पाये। बिल्ली का रास्ता काटना सही हो गया।

मिर्ज़ा को आज गाड़ी का छूट जाना खल गया। अब कोई गाड़ी दोपहर से पहले लखनऊ नही जाती और उससे जाना बेकार ही था। क्योंकि तब तक तो लोग मिट्टी देकर घर लौटते होंगे। बेचारे खड़े-खड़े यही सोच रहे थे कि अब क्या करना चाहिए कि इतने में उन्हें हकीम बदरुद्दीन साहब अपनी मोटर पर आते दिखाई पड़े। मिरज़ा मेंहदी को

देखते ही हकीम साहब ने अपनी मोटर रोक दी और बोले, "क्यों मिरजा क्या गाड़ो छूट गई ?"

मिरज़ा ने कहा, "अरे उस काली बिल्ली को तो आप जानते ही हैं, जो बेगम ने पाल रखी है। मै तो उससे आजिज आ गया हूँ। ऐसे वे मौके रास्ता काट जाती है कि कुछ न कुछ हादसा हो ही जाता है। देखिए न आज ही गाड़ी छूट गई।"

"तो चलो न हमारे साथ!" हकीम साहब ने कहा, "मै भी तो वहीं जा रहा हूँ। क्या वहाँ कुछ जरूरी काम है क्या ?"

मिरज़ा को अब जाकर कहीं अपनी फूफी की याद आई। बिल्ली के आगे वे उन्हें भूल ही गए थे। आँखों में आँसू भर कर उन्होंने कहा, "आपको तो बताना ही भूल गया। फूफीजान हम लोगों को अकेला छोड़कर इस दुनिया से कूँच कर गईं। उन्हीं की मिट्टी में शामिल होने के लिए जा रहा था कि इस मरदूद बिल्ली ने रास्ता काट दिया और जब उसकी बदशगूनी दूर करने के लिए कुछ देर घर पर ठहर गया तो इधर ट्रेन छूट गई। अब तो घर में या तो यह बिल्ली ही रहेगी या मैं ही रहूँगा।"

हकीम साहब ने मिरजा को समझा-बुझाकर अपनी मोटर पर बैठाल लिया और दोनों लखनऊ की ओर रवाना हो गये। लखनऊ पहुँचने में ज्यादा देर नहीं लगी। दो घण्टे के भीतर ही ये लोग मिरजा की कोठी के अन्दर पहुँच गये लेकिन वहाँ पता लगा कि गाड़ी का वक्त निकल जाने पर लोग लाश को दफनाने के लिए कब्रस्तान की ओर ले जा चुके हैं। मोटर से जाने पर लाश रास्ते ही में मिल जावेगी।

हकीम साहब को और भी जरूरी काम थे लेकिन मिरजा मेंहदी को इस तरह अकेले छोड़ देना उन्होंने मुनासिब नहीं समझा। वे उनको लेकर मोटर से कब्रस्तान की ओर चले।

केरायेदारों ने मिरजा की सूरत भी न देखी थी लेकिन वे इतना

जानते थे कि फ़लां गाँव में मुग़लजान के भतीजे रहते हैं जो उनके मरने के बाद इस कोठी के मालिक होंगे। लिहाज़ा जब मुग़लजान मरी तो उन्होंने एक आदमी मिरज़ा के पास भेजा था लेकिन जब सवेरे की गाड़ी से कोई न आया तो वे लोग लाश को दफ़नाने चले गये थे।

कब्रस्तान शहर से बाहर तीन-चार मील की दूरी पर था। मिरज़ा और हकीम साहब उसी ओर चले। करीब दो मील जाने पर लाश दिखाई पड़ी। हकीम साहब ने लाश से कुछ दूर ही मोटर रोक दी और कहा, "मिरज़ा देखो लाश सामने ही है। तुम उतर कर कंधा देने वालों में शामिल हो जाओ। मैं पीछे-पीछे मोटर पर आ रहा हूं। तुम जानते ही हो कि मैं बीमार आदमी हूँ। पैदल नहीं चल सकता और फिर मोटर को भी तो यहाँ छोड़ा नहीं जा सकता।"

मिरज़ा मेंहदी फ़ौरन मोटर से उतर गये और लपककर लाश के पास पहुँच कर उसमें अपना कंधा देने लगे। यही आख़िरी ख़िदमत थी जो मिरज़ा कर सकते थे क्योंकि और सब बातें तो उनके अख़्तियार के बाहर की हो चुकी थीं। उन्होंने जो लाश में कंधा लगाया तो कब्रस्तान पहुँच कर ही लाश से अलग हुए। बेचारे जूझ गये, कंधा सूज गया और पैर पस्त हो गये। वे थककर वहीं जमीन पर बैठ गये और सुस्ताने लगे।

लाश के साथ जो और लोग आये थे, उन्होंने मिरज़ा की मेहनत की बहुत तारीफ़ की। एक साहब बोले, "वाक़ई आपने बहुत मेहनत की, हम लोग आपके बहुत शुक्रगुजार हैं।"

"इसमें शुक्रगुज़ारी की कौन सी बात है।" मिरज़ा मेंहदी ने कहा, "यह तो अपना फ़र्ज़ था।"

"लेकिन बेटा आजकल की दुनिया में अपना फ़र्ज़ समझने वाले कहाँ मिलते हैं?" एक बुड्ढे ने दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा।

मिरज़ा मेंहदी ने आजिज़ी से अपना सर झुका लिया।

आठ-दस मिनट सुस्ताने के बाद लोगों में कुछ इशारेबाज़ी हुई और एक साहब ने मिरज़ा से कहा, "तो अब ज्यादा देर करना तो मुनासिब नहीं जान पड़ता। वैसे ही काफी देर हो चुकी है।"

"जी हाँ!" मिरज़ा ने कहा, "वक्त वैसे ही काफ़ी जा चुका है, अब ज्यादा देर करना ठीक नहीं है।"

"तो फिर आप तशरीफ़ ले जावें तो काम शुरू हो।" उन्हीं साहब ने फिर मिरज़ा से कहा, "आपका बहुत शुक्रिया।"

मिरज़ा को उनकी यह बात अच्छी नहीं लगी। माना कि वे आज फूफी से अलग रहते हैं, लेकिन उसका मतलब यह तो नहीं है कि किराये दार लोग सब कुछ हो गये और वे कुछ न हुए। उन्होंने कहा, "मेरे चले जाने पर आप तब से इतना ज़ोर क्यों दे रहे हैं।"

"आप शायद जानते नहीं कि लाश जनानी है।" दूसरे साहब ने कहा।

"जानता क्यों नहीं!" मिरज़ा ने कहा, "क्या यह भी आप लोगों से जानना पड़ेगा।"

"तो फिर जान बूझ कर आप इतनी ज़िद क्यों पकड़े हुए हैं?" तीसरे ने पूछा, "अब हमें दफ़नाने की रस्म अदा करनी है। इसलिए आप अब तशरीफ़ ले जावें तो काम शुरू हो।"

मिरज़ा को फिर यह बात बहुत अखरी। वे बोले, "तो क्या मुझही से परदा किया जावेगा?"

"और नहीं तो क्या घर वालों से किया जावेगा?" एक साहब ने कुछ सख्त लफ्जों में कहा।

"तो आप लोग घरवाले हैं?" मिरज़ा ने कहा, "और एक मैं ही अकेला यहाँ बाहरी हूँ क्यों?"

"पागल है क्या?" एक ने गुस्से में भरकर कहा, "तब से सबको परेशान कर रहा है।"

"अभी तक तो पागल नहीं था" मिरजा ने कहा, "लेकिन अब ज़रूर पागल हो रहा हूँ। ऐसी दुनिया में जहाँ केरायेदार घरवाले बन कर अपना हक़ जताने लगें और घरवालों से परदा होने लगे, वहाँ पागल ही हो जाना ठीक है।"

"अच्छा अब बहुत हो चुका।" एक तेज तबीयत वाले बिगड़ कर बोले, "बस अब फौरन उठकर चले जाओ नहीं तो मारे जूतों के सारा हक निकाल दूंगा।"

"नहीं, नहीं ऐसा कहना ठीक नही।" एक बुड्ढे साहब ने उन्हें रोकते हुए कहा, 'किसी की हक़तलफी ठीक नहीं। लो बेटा तुमने सचमुच बड़ी मेहनत की है। हम लोग तुम्हारा हक नहीं मारना चाहते।' यह कहकर उन्होने एक रुपया मिरज़ा के सामने फेंक दिया।

मिरज़ा मेंहदी अब और ज्यादा ज़ब्त न कर सके। वे उठकर खड़े हो गये और मारे गुस्से के काँपते हुए बोले, "बस अब चले जाओ, तुम लोग फौरन यहाँ से लाश छोड़कर, नहीं तो एक-एक को बँधवा कर भिजवा दूँगा। मुझे सरीहन उल्लू बनाकर मेरी फूफी की सारी रकम हड़प लेना चाहते हो। खबरदार जो लाश में हाथ लगाया। भागो यहाँ से। मैं सब इन्तजाम कर लूँगा।"

मिरज़ा की इस डपट से पहले तो लोग कुछ सहम गये लेकिन फिर उनमें से कुछ लोग मिरज़ा को गाली देते हुए मारने के लिए उठ खड़े हुए। आपस में गुत्थम-गुत्था होने ही वाला था कि मिरज़ा को पुकारते हुए हकीम साहब वहाँ पहुँच गये।

हकीम साहब को देखते ही मिरज़ा मेंहदी का जोश दूना हो गया। उन्होंने पुकारकर कहा, "इन केरायेदारों की हरामजदगी तो देखिए। सब के सब फूफी जान के रिश्तेदार बन गये है। और मैं इनकी निगाह में सिड़ी-सौदाई हूँ। ज़रा लपक कर पुलिस को तो बुलाइये। मैं इनमें से एक एक को....।"

हकीम साहब ने बात काटकर मिरजा को डपट कर कहा, "अमां सुनो भी तो। या अपनी ही जोते जाओगे ?"

मिरज़ा के चुप होने पर हकीम साहब ने सब लोगों से हाथ जोड़कर माफ़ी माँगते हुए कहा, "आप इनकी बातों का ज़रा भी बुरा न मानें। बेचारे पर ऐसा सदमा पड़ा है कि ये सचमुच ही पागल हो गये हैं।"

हकीम साहब की बातों से लोगों का गुस्सा शान्त हो गया लेकिन मिरजा मेंहदी हकीम साहब पर उबल पड़े। वे उनसे बोले, "आप भी इन लोगों की मुँहदेखी करने लगे.... ।"

हकीम साहब ने फिर बात काट कर कहा, "तुम भी अजीब आदमी हो मिरजा ! घंटे भर से हम लोग तुम्हारी फूफी की लाश लिए वहाँ बैठे तुम्हारा इंतज़ार कर रहे है और तुम यहाँ तब से दूसरे की लाश से उलझे हुए सबको परेशान कर रहे हो।"

मिर्जा के काटो तो खून नहीं। उन्होंने खिसियाकर पूछा, "तो क्या यह लाश हुसेनगंज से नहीं आई ?"

सब ने कहा, "जी नहीं ! यह तो चौपटियों की है।"

मिरजा ने मारे शर्म के जो सर झुकाया तो फिर ऊपर की ओर न उठा सके। उन्हें अब अपने कंधे और पैरों का दर्द महसूस होने लगा और आँख के सामने फूफी जान की जगह रह-रह कर उसी काली बिल्ली की तस्वीर आने लगी जो चलते समय उनका रास्ता काट गई थी।

हिन्दुओं का सचमुच अगर कोई त्योहार है तो वह होली है। इसे आप चाहे जिस दृष्टिकोण से देखिए इसमें दो रायें हो ही नहीं सकतीं। तस्वीर को चाहे उलट-पुलट कर जिस पहलू से देखिए नतीजा बस यही निकलेगा कि होली की तरह सार्वजनिक त्योहार हमारे देश में कोई दूसरा नहीं हो सकता और इसको उसी तरह राष्ट्रीय त्योहार बना देना चाहिए जिस प्रकार हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना दिया गया है।

राजनीतिक दृष्टि से देखिए तो भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है ही और यह त्योहार उन्हीं खेतिहरों का है जो साल के अन्त में अपनी सोने की फ़सल काट कर खुशी से फूले नहीं समाते। सामाजिक दृष्टि से देखिए तो यही त्योहार ऐसा है जिसमें ऊँच नीच और जात-पात का भेद छोड़ कर सब एक दूसरे पर रंग फेंकते और गले मिलते हैं। धार्मिक दृष्टि से देखिए तो इसी त्योहार से हमारे साल का अंत और नव वर्ष का प्रारंभ होता है। यही हमारा क्रिसमस और न्यू इयर्स डे है। आर्थिक दृष्टि से

देखिए तो इसी त्योहार की सफलता पर हमारे देश का आगामी बजट निर्भर रहता है और अन्त मे स्वास्थ्य की दृष्टि से देखिए तो इसी त्योहार पर हम हंसी-खुशी मना कर साल भर की मनहूसियत दूर कर लेते हें नही तो हमारे देश में आजकल मुहर्रमी पैदायश वालो की संख्या इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि इनसे हँसने और खुश रहने को कहिए तो ये बुरा मान जाते हैं, जैसे किसी ने इन्हें बहुत सख्त गाली दे दी हो। बालिश्त-बालिश्त भर के छोकरे कॉलिज में पहुँच कर ऐसा नथुना फुलाए रहते हैं कि जान पड़ता हे कि काट खाएंगे। सफेद खादी पहन कर तेल, चीनी और ट्रकों का परमिट लेकर दिन दहाड़े काला बाजार करने वाले बगुला भगतों से बातें कीजिए तो घोड़े जैसा मुंह लटका कर नैतिकता की ऐसी दुहाई दीचेंगे कि जैसे होली खेलने से ज्यादा और कोई दूसरा देश द्रोह है ही नहीं। इन मनहूसों की आज हमारे यहाँ कमी नही है बल्कि यह कहिए कि आज ज्यादा तादाद इन्ही की है तो ज्यादा ठीक होगा। इन लोगो से होली खेलने को कहिए तो ऐसे नखरे करेंगे कि जान पड़ता है कि इनके खानदान में कभी किसी ने रंग ही नही खेला।

होली का त्योहार खुशी और आनन्द मनाने का हे। जिसमें सारी दुनिया मस्ती से झूमने लगती है। फगुनहटे की मस्त बयार जब चलती है तो बूढ़े भी जवान हो जाते हैं और अलमस्त होकर गाने लगते है "फगुआ मे बाबा देवर लागें"। गाँव के किसान अपनी सोने की फ़सल देख कर साल भर की थकान भूल जाते हैं और मस्त होकर ऐसी खुशी मनाते हैं कि दो चार दिन आनन्द ही आनन्द दिखाई पड़ता है। मेरा तो ऐसा ख्याल है कि अगर होली साल में एक के बजाय दो बार यानी रबी और खरीफ की कटाई के बाद मनाई जाया करे तो हमारे मुल्क की मनहूसियत बहुत कुछ दूर हो जावे।

मेरे गाँव में तो इस जोर की होली मनाई जाती है कि साल भर के लिए आस-पास से मनहूसियत भाग जाती है और गाँव में जो दो चार

मनहूस फंस कर आ भी जाते हैं वे भी तोबा बोल जाते हैं। दिन भर ऐसे ज़ोर का रंग चलता है बस खुदा की पनाह। चेहरे पर वह पुख्ता रंगकारी कर दी जाती है कि रगड़ते-रगड़ते एक पर्त खाल की उतर जाती है। सुबह से शाम तक ऐसा हड़बोंग मचता है कि कोई भाग कर बचने नहीं पाता। हाँ गाँव छोड़ कर चला जावे तो बात ही दूसरी है।

शहर के लोग इसे असभ्यता और फ़िजूल ख़र्ची कहते हैं। दिन भर सिगरेट फूंकने वाले और काफ़ी हाउस में बैठ कर मारे फ़ैशन के गांठ के पैसे खर्च करके जबरदस्ती कड़ुई काफ़ी का घूंट गले के नीचे उतारने वाले बाबू लोग जब साल भर में इस त्योहार पर चार पैसे का रंग और एक जोड़ा फटा पुराना कपड़ा मेहतर को दे देना फ़िजूल ख़र्ची कहते हैं तो उनकी बुद्धि पर तरस आती है। ये खूसट भला हँसी खुशी का मजा क्या जानें ?

"लुत्फ़ मय तुझसे क्या कहूँ जाहिद हाय कम्बख्त तूने पी ही नहीं।"

इन मनहूसों के लिए तो बस एक ही उपाय है कि इनको होली के दिन पकड़कर इनके मुँह पर वही स्याही पोत दी जावे जिससे इस बार एलेक्शन में वोट देने वालों के निशान लगाया गया था जिससे बस पंद्रह दिन तक तो चेहरे का पुख्ता रंग न छूट सके।

हाँ तो होली का ज़िक्र आने पर एक घटना याद आ गई। मेरे गाँव में एक अंग्रेजी स्कूल है जिसमें कुछ मास्टर बाहर से आते ही जाते रहते हैं। देहात का स्कूल जो ठहरा, इससे शहराती टीचर इसमें ज्यादा दिन नहीं टिकते और हम लोगों को हर साल दो चार नई सूरतें देखने को मिल जाती हैं। फिर इनमें अगर दो एक भड़कने वाले टीचर निकल आए तो इन्हीं से साल भर हम लोगों की दिलबस्तगी होती रहती है।

इस वर्ष एक ठाकुर साहब बलिया से फंसकर हमारे स्कूल मे आए थे। ठा० अलियार सिंह चौहान। चौहान जी एक तो ठाकुर दूसरे बलिया निवासी और तीसरे गणित के अध्यापक। आठो गांठ 'कुम्मैद, आते ही

अपने जिले के गुण जाहिर करने लगे। किसी ने 'टिक' कहा नहीं कि पटाखे की तरह दगने लगे। दीवार या ज़मीन पर किसी ने 'टी' लिख दिया कि आप उससे फ़िरंट हो गये। ग़रज यह कि अभी आपको हमारे गाँव में पधारे थोड़े ही दिन हुए थे लेकिन जिसे देखिए वह आप से इस बेतकल्लुफ़ी से मज़ाक कर रहा है जैसे आप के यहाँ उसकी एक अरसे से रिश्तेदारी रही हो।

एक दिन एक अध्यापक ने अन्य सब अध्यापकों की दावत दी। चौहान जी को भी इस चाय पार्टी में बुलाया गया। आप पहुँचते ही इस तेज़ी से मिठाइयों पर टूटे कि सब को डर लगने लगा कि कहीं सारी मिठाईं ये अकेले ही न चट कर जावें। एक साहब ने मिठाइयों का समूल नाश निकट देख कर कहा, "ठाकुर साहब लीजिए 'टी' पी लीजिए। 'टी' का नाम सुनते ही ठाकुर साहब के पलीता सा लग गया। आप ने यह न सोचा कि 'टी' चाय के लिए कहा गया है, उनको चिढ़ाने के लिए नहीं। बस फ़ौरन खफा होकर जो वहाँ से चले तो सीधे अपने घर पर ही जाकर रुके।

गाँव वालों के लिए एक अच्छा शिकार मिल गया था। दिन भर जिसे देखिए वही उन्हें चिढ़ा रहा है और ठाकुर साहब हैं कि हम लोगों के दिल बहलाने के सामान बने जा रहे हैं। कोई दिन ऐसा न जाता जब चौहान जी के साथ दिल्लगी न होती और वे हमसे खफ़ा न हो जाते।

स्कूल में एक और ठाकुर मास्टर थे ड्राइंग मास्टर। जिन्हें सब लोग प्यार से डैमू कहते थे। जौनपुर के रहने वाले एक दम पौने आठ। हिजड़ों जैसा चेहरा लेकिन नाम बड़ा रोबीला ठाकुर दल थम्मन सिंह। मिलनसार ऐसे कि एक बार आप से जान पहचान हो जावे तो फिर आपके यहाँ रोज़ एक चक्कर लगा आवेंगे। हमारे गाँव में कई साल से रहते-रहते घिसघिसा कर अब हमलोगों में मिल जुल गए थे। इनसे और चौहान जी से खूब मज़ाक होता। दोनों ओर से ऐसी छींटा-

कशी होती कि हम लोगों को यह आशा होने लगी कि इस बार होली पर यह सुरख़ाब का जोड़ा अवश्य ही कुछ न कुछ रंग लावेगा और यही सोचते-सोचते सचमुच होली आ गई।

होली के दिन सबेरे चौहान जी सो ही रहे थे कि उनके दरवाज़े पर ड्राइंग मास्टर साहब एक लंबी सी बारात लेकर पहुँच गए। आगे-आगे एक घोड़े पर मौर बाँधे हुए डैमू थे और उनके पीछे गाँव भर के लड़के चेहरे पर रंग पोते बाराती बने थे। कोई गले में जूतों का हार पहने था तो कोई कुछ दूसरा स्वांग बनाए हुए था। साथ में ढोल और करताल वाले अलग हुरदंग मचा रहे थे।

चौहान जी यह शोर गुल सुन कर घर से बाहर निकले तो डैमू ने उन्हें देखते ही कहा, "वाह साहब वाह, कब से हम लोग बिदा कराने को खड़े हैं और आपको जैसे कुछ फिक्र ही नहीं है। अब देर न कीजिए नहीं तो साइत बीत जावेगी।"

चौहान जी यह सुनते ही खफा हो गये। बोले, बोले "यह सब क्या तमाशा है?"

"तमाशा बमाशा आप जानिये!" डैमू ने कहा—"हम तो अपनी बीबी को विदा कराने आये हैं। और आप इसे तमाशा कह कर हमें टालना चाहते हैं। यह नहीं होगा। आप बिदाई का इन्तजाम जल्द से जल्द कर दीजिए।"

चौहान जी को अब गुस्सा आ गया। उन्होंने डपट कर कहा—"आप लोग मेरे दरवाज़े से फ़ौरन हट जाइए।"

"ख़ाली हाथ तो हम लोग यहाँ से जा नहीं सकते।" डैमू ने कहा—"पाँच साल शादी किए हो गये लेकिन बीबी की सूरत देखने को तरस गये। अगर बहिन को घर ही में बैठाल रखना था तो मेरे साथ सात बार भांवर क्यों घुमाया था? अब तो हम बिना विदा कराये यहाँ से टल नहीं सकते।"

चौहान जी मारे गुस्से के काँपने लगे लेकिन बेचारे करते तो क्या करते। तुनक कर घर के भीतर चले गये और अन्दर से दरवाजा बन्द कर लिया। थोड़ी देर तक हुल्लड़बाजी करके डैमूं अपने घर लौट आये और भीड़ भी तितर-बितर हो गयी।

चौहान जी को डैमूं की यह हरकत बहुत नागवार खातिर हुई। वे इसका बदला लेने को हर तरह से तैयार हो गये और हम लोगों से सलाह करने के लिये खिड़की से चुपचाप निकल कर हमारे यहाँ पहुँचे।

हम लोग तो इस प्रकार के चंडूल तलाशते ही रहते हैं। इनको देखते ही सब लोग इनके साथ हर तरह की हमदर्दी दिखाकर डैमूं की इस बेजा हरकत की बुराई करने लगे। एक साहब सहानुभूति के शब्दों में बोले, "भला यह भी कोई मजाक में मजाक है। डैमूं तो नम्बरी शोहदा है। उसके निगाह में भले आदमियों की जैसे कोई इज्जत ही नहीं है। आज उसे ऐसा छकाना चाहिये कि वह भी याद करे।"

चौहान जी बोले, "अगर आप लोग मेरे सच्चे दोस्त हैं तो मेरे लिए आज ही जो कुछ कर सकते हों कर डालिए।"

हम लोगों ने चौहान जी को हर तरह से विश्वास दिलाया कि हम लोग उनकी पूरी मदद करने को तैयार हैं लेकिन यह तो चौहान जी ही तै करें कि डैमूं के साथ क्या मजाक किया जावे।

चौहान जी बोले, "मुझे तो इस समय कुछ सूझ नहीं रहा है। मेरा बस चलता तो मैं आज खून की होली खेल डालता। अब आप ही लोग जल्द कुछ तै कर डालिये जिसमें देर न होने पावे।"

एक साहब ने यह सुझाव पेश किया कि क्यों न चौहान जी का भी उसी तरह प्रोसेशन निकाला जावे और इन्हें दूल्हा बना कर डैमूं के दरवाजे पर गाजे-बाजे से साथ ले चला जावे।

यह सुनते ही चौहान जी उछल पड़े। बोले, "बस इससे अच्छी और कोई स्कीम नहीं बन सकती। बस इसी का इन्तजाम करा दीजिये।"

मैंने कहा, "इसमें कोई नई बात तो होगी नहीं। यह तो डैमूं के मजाक की नक़ल ही कही जावेगी। ऐसी स्कीम बनाइए जिसमें कुछ नवीनता हो।"

चौहान जी ने स्कीम फ़िस्स होते देखा तो बड़ी आजिजी से मेरा हाथ पकड़ कर बोले, "नहीं, नहीं, यही ठीक रहेगा। अब आप इसमें कुछ उलट फेर न करें, आपको मेरी क़सम।"

मैं चुप हो गया और बारात की तैयारियाँ होने लगीं। चौहान जी मारे उत्साह के इधर उधर इस तरह नाचे नाचे फिरते थे मानों उनके बेटे का ब्याह होने जा रहा हो। बाजे वाले भी आ गये और गाँव के हुल्लड़-बाज लड़कों का गिरोह भी जमा हो गया लेकिन बहुत तलासने पर भी नौशा के लिए घोड़ा कहीं न मिला।

मैंने कहा, "तो फिर कोई दूसरी स्कीम क्यों नहीं बनाते?"

लेकिन चौहान जी किसी तरह राजी ही न होते थे। मेरे पास यह सुनते ही दौड़े आये और गिड़गिड़ा कर बोले, "मुझसे क्या खता हो गई है भाई साहब, जो आप शुरू ही से मेरी स्कीम पर पानी फेरने की कोशिश कर रहे हैं। इस बदमाश को अगर सजा न दी गई तो जैसे वह आज मेरी इज्जत बिगाड़ गया है वैसे ही कल आपके ऊपर धूल उड़ावेगा; इसको तो आज ही माकूल सजा मिल जानी चाहिए।"

मैंने जब देखा कि मर्ज़ लाइलाज हो गया है और चौहान जी अब बिना दूल्हा बने मान नहीं सकते तो मैंने कहा, "आप ठीक कहते हैं अगर इसे सजा न मिली तो यह रोज ही किसी न किसी भलेमानुस के यहाँ बारात लेकर खड़ा रहेगा। आप परेशान न हों मैं अभी सब ठीक किये देता हूँ।"

इतना कहकर मैंने अपने साथियों से अलग हटकर सलाह की और एक आदमी को डैमूं के पास भेज कर यहाँ का सारा समाचार कहला

दिया और दूसरे आदमी से घोड़े की जगह एक गदहा पकड़ लाने को कहा।

थोड़े ही देर में लड़के एक गदहे को पकड़ कर और कहा कि बहुत तलाश करने पर भी उनको कहीं घोड़ा नहीं मिला। बड़ी मुश्किल से तो यह गदहा लोचनी धोबिन के थान घर से खोल कर लाये हैं। बुढ़िया कहीं घर पर होती तो भला किसी की मजाल थी कि इसे यहाँ तक ला पाता।

गदहे को देखकर चौहान जी पहले तो चौंके लेकिन हम लोगों ने वह लक़लक़ा लिया कि उनसे कुछ कहते न बना। किसी ने कहा, "होली में इन छोटी-छोटी बातों का ख्याल कीजियेगा तो फिर ले चुके बदला।"

दूसरे ने कहा, "मजाक तो हो ही रहा है, जैसे मजाक की शादी हो रही है, वैसे ही सवारी भी मजाकिया होनी चाहिये।"

तीसरे साहब बोले, "घोड़े पर चढ़ कर चलने में भला क्या मजा है? गदहे पर चढ़ कर नौशा चले तो बरसों लोगों को याद भी रहेगा कि फ़लाँ के दरवाजे पर दूल्हा गदहे पर चढ़ कर बिदा कराने आया था।"

चौहान जी इन दलीलों को सुन कर फड़क उठे और उन्हें गदहे की सवारी इतनी पसन्द आ गई कि उस समय यदि कहीं से घोड़ा मिल भी जाता तो वे उस पर चढ़ने से इन्कार कर देते।

अब हम लोग चौहान जी को सजाने लगे। एक बड़ी सी टूटी हुई टोकरी का मौर बनाया गया जिसमें पुराने जूतों की झालर लगा दी गई। एक फटी सी पुरानी अचकन पहनाई गई जिसमें एक आस्तीन ही नदारत थी। और जो पैजामा उन्हें पहनाया गया उसमें इतने छेद थे कि परदे के ख्याल से उसका पहनना न पहनना बराबर था। गदहे की पीठ पर एक फटा पुराना बोरा बिछा कर चौहान जी उस पर बैठाल दिये गये और हम लोग खूब शोर गुल मचाते हुए उनका जुलूस बना कर चले।

चौहान जी कभी घोड़े पर भी नहीं चढ़े थे फिर गदहे पर भला क्या चढ़ते। वे एक हाथ से रस्सी की लगाम और दूसरे से गदहे की अयाल पकड़े किसी तरह से अपने को संभाले हुए गदहे की पीठ पर बैठे थे।

डैमूं का मकान वहाँ से ज्यादा दूर नहीं था लेकिन हम लोग जलूस को गाँव भर घुमा कर तब उनके मकान पर पहुँचना चाहते थे जिससे गाँव का कोई आदमी बारात देखने से महरूम रह न जाये। हम लोग थोड़ी ही दूर गये थे कि सामने पंडित तोताराम जी दिखाई पड़े। पंडित जी हमारे गाँव के सब से हँसोड़ आदमी माने जाते हैं और होली में तो इनका रंग सबसे निराला रहता है। सवेरे ही से जो भंग छान कर ये बाहर निकलते हैं तो ऐसा हुड़दंग मचाते हैं कि बस न पूछिये। इन्होंने चौहान जी को देखते ही ललकारा, "वाह बेटा! अकेले ही अकेले गौना लाने निकल पड़े और बाप को घर ही में छोड़ दिया। भला वहाँ समधिन से होली कौन खेलेगा?"

हम लोगों ने कहा, "आइए पंडित जी! बिना समधी के भी कहीं बारात सजती है। हम लोग तो आप ही के यहाँ आ रहे थे।"

पंडित जी बोले, "तो चलो मैं खुद ही आ गया। लेकिन दूल्हे के मुँह पर गुलाल तो लगा दिया होता। विधवा जैसे मुँह अच्छा नहीं लगता।"

इतना कह कर उन्होंने चौहान जी के मुँह पर इतना गुलाल झोंक दिया कि बेचारे के मुँह और आँख में गुलाल ही गुलाल भर गया। चौहान जी के दोनों हाथ तो पहले ही से फँसे थे। वे सर झटक कर इधर उधर मुँह का गुलाल थूकने लगे।

पंडित जी बोले, "ठहरो बेटा मैं पोंछे देता हूँ। इतना कह कर उन्होंने अपने दोनों हाथों से उनका गाल जो पोंछा तो चौहान जी का आधा चेहरा तो काला हो गया और आधा एकदम लाल। पंडित जी ने अपनी दोनों हथेलियों में प्रेस की लाल और काली पुख्ता स्याही लगा

रखी थी। चौहान जी कुछ समझ न सके लेकिन उनकी दुरंगी शकल देख कर हम लोगों का मारे हँसी के बुरा हाल हो गया उनकी ऐसी भद्दी सूरत बन गई कि देख कर मनहूस से मनहूस आदमी भी हँस पड़े। हम लोग चौहान जी की नज़र बचा कर हँसते थे कि कहीं उनको यह राज़ मालूम न हो जावे।

चौहान जी को तो बस इसी बात की उतावली थी कि किसी तरह उनका जलूस डैमूं के दरवाज़े तक पहुँच जावे लेकिन हम लोगों के मारे उनकी चलने न पाती थी। जब वे बहुत उतावले हो गये तो हम लोगों ने सोचा कि अब किसी तरह इनसे पिंड छुड़ाना चाहिए।

चौहान जी का गदहा छोटे क़द का था और वे थे लम्बे क़द के। इससे उनकी टाँगे ज़मीन से रगड़ती चलती थीं। उन्होंने कई बार इसकी शिकायत की कि रक़ाब नहीं है, पैर ज़मीन से रगड़ने से बहुत तकलीफ़ होती है। हम लोगों ने उनकी तकलीफ़ दूर करने के लिए उनके दोनों पैरों को नीचे एक में कस कर रस्सी में बाँध दिया। उस समय चौहान जी की अक़्ल में यह न आया कि अब वे गदहे के साथ एक दम नत्थी हो गये हैं और बिना उस रस्सी के खुले उनको गदहे से मुक्ति नहीं मिल सकती।

जब उन्होंने डैमूं के यहाँ चलने के लिए बहुत ऊधम मचाया तो हम लोग उन्हें उस ओर ले चले जिधर गदहे की मालकिन श्रीमती लोचनी देवी का मकान था। यह बुढ़िया लड़ने में ऐसी उस्ताद थी कि सारा मुहल्ला हिलाए रहती थी। हम लोग अभी कुछ दूर ही थे कि एक आदमी ने आगे बढ़ कर उसे बताया कि उसके गदहे पर स्कूल के एक मास्टर सबेरे ही से चढ़े घूम रहे हैं और उसको उन्होंने इतना पीटा है कि बेचारा शायद ही बचे।

लोचनी ने जब यह सुना तो घर से ऐसी नफ़ीस गालियाँ देती हुई

निकली कि कान के कीड़े झड़ जावें। हम लोगों ने उसको अपनी ओर आते देखा तो गदहे को दो चार डंडे मार कर नौ दो ग्यारह हो गये।

इधर गदहे राम पिटते ही जो सीपों सीपों करके भागे तो सीधे अपने थान ही पर रुके। उधर चौहान जी बहुत इतमीनान से आसन जमाए बैठे थे। उन्हें स्वप्न में भी इसका गुमान न था कि अचानक ऐसी आफ़त आ जावेगी। गदहा जब एकाएक भागा तो पहले तो वे सकते में आ गए। कुछ दूर तक तो उन्होंने अपने को किसी तरह सँभाला लेकिन फिर खिसक कर एक ओर लुढ़क ही तो गए। मगर इतना ही होता तो भी कोई बात नहीं थी।

"गिरते है शह सवार ही मैदान जंग मे"

लेकिन उनके दोनों पैर तो रस्सी में ऐसे जकड़े हुए थे कि न वे ही गदहे से किसी तरह अलग हो सकते थे और न गदहा ही उनको इतना सस्ता छोड़ सकता था। जब वे एक ओर लुढ़क कर गिरे तो उनको बँधी हुई टाँगे ऊपर की ओर हो गईं और सर नीचे की ओर चला गया, शादी और गौना गया भाड़ चूल्हे में। उन्हें उस समय अपनी जान बचाने की फ़िक्र हो गई। उन्होंने अपनी दोनों हथेलियों को जमीन पर टेक कर दोनों हाथों के सहारे अपने सर को किसी तरह ऊपर उठा रखा, नहीं तो उनकी खोपड़ी सड़क पर टकरा-टकरा कर चूर हो जाती।

धोबिन ने दूर से यह छ पैरों वाला जानवर देखा तो पहले तो उसकी समझ में न आया कि आखिर मामला क्या है? लेकिन जब गदहा उसके पास आकर खड़ा हो गया तो उसने देखा कि एक बहुरूपिया सा आदमी जिसका आधा चेहरा काला है और आधा लाल, फटे फटाए कपड़े पहने उसके गदहे के साथ गोरखधंधे की तरह फँसा पड़ा है। उसका सर नीचे की ओर है और दोनों टाँगें ऊपर की ओर एक ही रस्सी में बँधी हैं। लोचना को चौहान जी पर कुछ भी दया न आई उलटे अपने गदहे के ऊपर होने वाले जुल्म को देख कर उसके गुस्से का पारा एकदम चढ़

गया। उसने आव देखा न ताव झट झाड़ू उटाकर चौहान जी की खातिरदारी शुरू कर दी। चौहान जी पर जैसे-जैसे झाड़ू पड़ती तैसे-तैसे वे दुहाई खींचते लेकिन धोबिन है कि ज़रा भी मुरव्वत करने का नाम नहीं लेती और फिर हमारे यहाँ की धोबिनें अगर इतनी जल्द मुरव्वत के बहाव में बह जाया करतीं तो सीता जी को क्या राम जी आसानी से जंगल में भेजते। लोचना भी आखिर उसी खानदान की रमणी-रत्न थी। जब वह चौहान जी को पीट कर थक गई तो भीतर से एक घड़ा पानी जिसमें कपड़ा धोने के लिए सज्जी और लीद वगैरह भिगोई थी उठा लाई और उसे चौहान जी पर उड़ेल कर दरवाज़ा बन्द कर लिया। चौहान जी बाहर गदहे से बंधे पड़े रह गए।

हम लोगों ने जाकर डैमू को सारा हाल बताया कि बाद मुद्दत के फँसा है यह पुराना चंडूल। डैमू सारा हाल सुनकर उछल पड़े। वे दौड़े हुए धोबिन के घर पर गए जहाँ चौहान जी गदहे से नत्थी हुए पड़े थे। उन्होंने उनके पैर की छदान खोल कर कहा, चलिए जीजा जी, घर पर आपका इन्तजार हो रहा है और आप यहाँ आराम कर रहे हैं। जल्दी कीजिए नहीं तो बिदाई की साइत बीत जावेगी।"

चौहान जी भला क्या बोलते। झेंप, खीझ और गुस्से ने उनकी जो हालत कर दी थी उससे उनकी वैसे ही बोलती बंद थी। जैसे ही उनकी अह्म-फाँस कटी वे सर नीचा किए हुए अपने घर की ओर बिना बिदा कराए ही चले गए और शाम को किसी के यहां होली मिलने भी न गए।
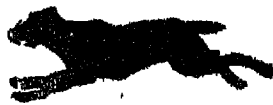
मेरे गाँव मे एक डाक्टर है, डाक्टर डेगर्थी। छोटा-सा कद है, दुबला, पतला शरीर, नाक काफी नोकीली, सर के आधे बाल झडे हुये, चेहरा वैसा ही, जैसा बुढापे मे अक्सर आराम वालो का हो जाता है। जात के ब्राह्मण है, ऐसे-वैसे ब्राह्मण नही, शुद्ध गुजराती ब्राह्मण, जो हमारे घर का खाना खाने की कौन कहे हमारे यहाँ का फून भूँजना भी पसन्द नही करेंगे लेकिन धीरे-धीरे जब लगूर तरक्की करके आदमी बन गये तो डाक्टर साहब आखिर हम लोगो से कहा तक दूर रहते। उन्होने भी अपने को बहुत सुधारा ओर नतीजा उसका यह हुआ कि वे धीरे-धीरे हम लोगो के यहाँ चाय पीने लगे।

लेकिन चाय के आगे डाक्टर साहब की तरक्की की गाड़ी न बढी तो न बढ़ी। बड़ी-बडी कोशिशे की गई हर तरह की आरजू मिन्नतो को काम मे लाया गया लेकिन सब बेकार। डाक्टर साहब को ओर आगे बढने के लिए किसी तरह राजी न किया जा सका।

एक दिन का जिक्र है मेरे एक मित्र लखनऊ से आ रहे थे। मै उन्ही को लाने स्टेशन जा रहा था। ताँगा आ गया था मै उस पर बैठने ही वाला था कि डाक्टर साहब दिखाई पड़े। आपने आते ही सवाल किया, "कहिये कहाँ की तैयारी है?"

मैंने उन्हें संक्षेप में बता दिया कि मैं इस मतलब से स्टेशन जा रहा हूँ।

"स्टेशन तो मुझे भी जाना था" डाक्टर साहब सकुचाते-सकुचाते बोले, "एक मरीज़ को देखना था, लेकिन आप जाइए मैं चला जाऊँगा।"

मैंने कहा, "तो साथ ही क्यों नहीं चलते ? मैं तो जा ही रहा हूँ, क्यों बेकार में ५-६ मील का चक्कर साइकिल पर लगाइएगा ? या कुछ तकल्लुफ कर रहे हैं ?"

"जी, मैं चला जाऊँगा, आप तकलीफ न करें।" डाक्टर साहब ने उत्तर दिया, "आपके साथ जाने में ठीक नहीं रहता। आप मौके बे मौके बुरी तरह फँसा देते हैं। आप जाइए।"

"मैं आपको फँसा देता हूँ, गोया आप मछली हैं या बुलबुल। आखिर कुछ बताइएगा भी कि मेरे ऊपर यह फँसाने का इलजाम क्यों लगाया जा रहा है ?" मैंने पूछा।

डाक्टर साहब गंभीर हो बोले, "आप जानते ही हैं कि कुछ घरेलू मजबूरियों के कारण मुसलमानों के यहाँ खाने-पीने की मेरी हिम्मत नहीं पड़ती। फिर भी आप इसका कोई ख्याल नहीं करते। अभी उस दिन जब आपके साथ दुमन्वीपुर गया था तो आपने मुझे मिर्जा साहब के यहाँ ऐसा मजबूर किया कि मुझे उनके यहां पान खाना ही पड़ा। उस दिन सच मानिए मुझसे खाना नहीं खाया गया।"

"बस इतनी-सी बात है जिस पर राधा रूठी हैं" मैंने कहा, "तो चलिए साहब मैं आपको अब कभी इस तरह मजबूर नहीं करूँगा इतना ही नहीं मैं आपसे कसम खाकर कहता हूँ कि अगर ऐसा मौका कभी आ भी गया तो मैं वहाँ आपकी हर तरह से मदद करूँगा।"

डाक्टर साहब को मेरी बातों पर तस्कीन हो गई और वे मुझसे भीष्म प्रतिज्ञा करा कर मेरे साथ तांगे पर बैठ कर स्टेशन जा पहुँचे। स्टेशन पर पहुँच कर हम लोगों को मालूम हुआ कि गाड़ी कई घंटे लेट है लिहाजा

डाक्टर साहब के मरीज़ को देखने के बाद हम लोग स्टेशन के पास रहने वाले मीर साहब से मिलने चले गये।

मीर साहब मकान पर ही थे। देखते ही बड़े तपाक से मिले। बोले, "गाड़ी लेट है क्या ?" और फिर मेरे स्वीकार करने पर कहने लगे, "समझ में नहीं आता कि डाक्टर साहब के मरीज का सुक्रिया अदा करूँ या इस टरेन का जिसकी वजह से आज आपका न्याज तो हासिल हुआ। नहीं तो इतने करीब रहकर भी आप तो सचमुच ईद के चाँद हो गये हैं।"

मैं इसका जवाब भी क्या देता। किसी तरह दो-चार मजबूरियां बता कर माफी माँगी और इधर-उधर की बातें करने लगा। मुश्किल से दो चार मिनट गुजरे होंगे कि एकाएक मीर साहब को जैसे कुछ भूला-सा याद आ गया। वे चौंक कर बोले, "लोग सही कहते हैं कि साठ बरस की उम्र में आदमी सठिया जाता है। इतनी देर आप लोगों को आये हो गया चाय की कौन कहे पान-पत्ती तक के लिए नहीं पूछा। रमजानी ! अबे ओ रमजानी के बच्चे ! न जाने कहाँ मर गया मरदूद।"

मैंने कहा, "आप ज़रा भी उजलत न करें। यह तो अपना घर है। जिस चीज़ की जरूरत होगी मैं ख़ुद ही माँग लूँगा। आप तशरीफ रखें।"

लेकिन मीर साहब मेरी बात सुनी अनसुनी करके रमजानी को तब तक पुकारते ही रहे जब तक रमजानी मियाँ पैजामे के ऊपर से अपनी जांघ खुजलाते हुए कमरे में दाखिल नहीं हुए।

रमजानी को देखकर मीर साहब ने संतोष की सांस ली और हम लोगों की तरफ मुखातिब होकर बोले, "चाय मँगाऊँ ?"

"चाय तो मैं पीकर चला था" मैंने कहा, "हाँ डाक्टर साहब ने जरूर अभी तक चाय नहीं पी। अगर ज्यादा तकलीफ न हो तो उनके लिए........।"

मेरी बात पूरी भी न होने पाई थी कि डाक्टर साहब ने कान खड़े किये और फ़ौरन ही बोले, "चाय तो मैं भी पीकर आया हूँ।"

"तो क्या मुजायका है,, मीर साहब बोले, "एक प्याला और सही चाय ने तो अब हुक्के और पान की जगह ले ली है ।"

मैंने कहा, "जी हाँ, अब तो किसी के यहाँ जाइए । वक्त हो या नावक्त चाय हाजिर है । फिर हम लोग तो अभी कल से चाय पीने लगे हैं । लेकिन डाक्टर साहब के गुजरात में तो यह हालत है कि आप किसी बड़ी दूकान में चले भर जाइए फिर क्या मजाल है कि वहां से आपको बिना चाय पिये छुट्टी मिल जावे ।"

मीर साहब बोले, "हां साहब क्यों न हो, वहाँ के लिये चाय उतनी ही जरूरी है जितनी विलायत वालों के लिए शराब । अबे रमजानी, तू खड़ा क्या सुन रहा है ? जा लपक कर तीन प्याले चाय ले आ । हम सब डाक्टर साहब का साथ देंगे ।"

डाक्टर साहब मुझ पर बहुत खफा हो गये । मेरी कसम और मेरी प्रतीज्ञा की बात सोच कर वे मेरी ओर बहुत गुस्से की नजर में देखने लगे थे । मीर साहब का यह फ़रमान सुना तो बोले, "मैं चाय नहीं पिऊंगा ।"

"आख़िर यह तकल्लुफ क्यों ?" मीर साहब ने पूछा ।

"मेरी समझ में खुद नहीं आ रहा है कि आज डाक्टर साहब को क्या हो गया है ।" मैंने धीरे से कहा, "कहाँ तो घर पर इन्हें घंटे दो घंटे चाय नहीं मिलती तो बेचैन हो जाते हैं और आज एक मरतबा मुँह से निकल क्या गया कि चाय पीकर चले हैं तो अब चाय न पीने की इस क़दर वकालत कर रहे हैं गोया कभी चाय पीते ही नहीं ।"

मैंने धीरे से निगाह उठाकर डाक्टर साहब की तरफ देखा तो ऐसा जान पड़ा कि दो बड़े-बड़े अंगारे मेरी ओर घूर रहे हैं । मैंने फिर सर झुका लिया ।

इतने में रमजानी तीन प्यालों में चाय बना कर एक तश्तरी में लाया चाय के प्याले, किश्ती और किश्ती पर बिछा हुआ कपड़ा इतना गंदा था

कि एक बार तो मेरी भी हिम्मत छूट गई लेकिन डाक्टर साहब का साथ तो देना ही था। लिहाजा मैंने एक प्याला उठा लिया। मीर साहब ने दूसरा प्याला डाक्टर साहब की तरफ बढ़ाते हुए कहा, लीजिए चाय हाजिर है। यह भी आप का घर है और आप लोग भी हमारे बच्चों की तरह हैं। घर में कैसा तकल्लुफ ?"

मैंने कहा, "जी हां, घर में किस बात का तकल्लुफ ? लीजिए शुरू कीजिए।"

मैंने फिर डाक्टर साहब की ओर देखने की कोशिश की लेकिन अब उनकी आँखें मारे गुस्से के और तेज हो गई थीं, उन्होंने प्याला हाथ में ले लिया था, लेकिन वे कुछ तै नहीं कर पा रहे थे। एक ओर मीर साहब का एखलाक, दूसरी ओर धर्म और समाज का डर और तीसरी ओर मेरा विश्वासघात उन्हें अजीब उलझन और खीझ में डाले हुए था। वे इसी उधेड़ बुन में पड़े हुए थे कि उनकी पुकार ईश्वर ने सुन ली। जो प्रभु गज की पुकार सुन कर पैदल दौड़ा आ सकता है वह भला एक शुद्ध गुजराती ब्राह्मण की गिड़गिड़ाहट पर कैसे कान बन्द रखता। डाक्टर साहब हाथ में प्याला लिये ही थे कि एक मक्खी चाय में गिरकर जूझ गई। डाक्टर साहब को बहाना मिल गया। उन्होंने फौरन प्याला मेज पर रख दिया और छुटकारे की साँस ली।

"क्यों, क्या हुआ हजरत ? क्या मेरी दरख्वास्त नामंजूर हो गई ?" मीर साहब ने पूछा।

"जी उसमें मक्खी पड़ गई है ?" डाक्टर साहब ने उत्तर दिया।

"मक्खी तो चाय में अक्सर पड़ जाती है।" मैंने बहुत दबी जबान से कहा।

"जी और नहीं तो क्या।" मीर साहब ने शह पाते ही चम्मच से मक्खी निकाल कर कहा, "इन मक्खियों का ख्याल करने लगिये तो बस चाय से उसी दिन सलाम कर लेना पड़े।"

"बिल्कुल सही कह रहे हे आप ।" मैने बहुत गम्भीरता से कहा ।

"फिर मैने तो फौरन ही उसे निकाल दिया ।" मीर साहब बोले, "उसका गिरना नही कि मेरा निकालना हुआ ।"

"इसमे क्या शक है" मैने उसी गभीरता से कहा, "मै तो सच मानिए हैरत मे आ गया आप के हाथो की फुर्ती देखकर । मक्खी कब प्याले मे गिरी और कब प्याले से बाहर हुई यह तो कोई देख ही न सका । मुश्किल से वह प्याले मे लमहे भर रही होगी ।"

"मैं यह मक्खी की चाय नहीं पिऊँगा"

"जी मुश्किल से" मीर साहब बोले,, 'फिर जनाब इन मक्खियो का कहाँ तक ख्याल किया जावे । अगर इन से बचकर कोई जिन्दगी बसर करना चाहे तो उसकी गुजर इन्सानो के बीच मे तो हो ही नही सकती । हाँ किसी पहाड़ की खोह मे शायद पनाह मिले तो मिले । खैर छोड़िए इन बातों को । लीजिए, डाक्टर साहब प्याला उठाइए । नही तो आपकी चाय एक दम पानी हो जाएगी ।"

"मैं यह मक्खी की चाय नहीं पिऊँगा ।" डाक्टर साहब ने जी कड़ा करके कहा ।

"आप इसको मक्खी की चाय कहते हैं ।" मैंने बहुत ताज्जुब भरे लफ्जों में कहा, आखिर आज आप को क्या हो गया है ? कहाँ तो आप घर पर अक्सर चाय से मक्खी निकाल कर फेंक देते थे और कहाँ आज एक सड़ी सी मक्खी के लिए इतनी ज़िद पकड़े हुए हैं कि मेंरे तो कुछ समझ में ही नहीं आ रहा है ।"

"मुझे खुद बहुत ताज्जुब हो रहा है ।" मीर साहब बोले ।

"मुझे खुद बहुत ताज्जुब हो रहा है ।" मैंने कहा, आप सच मानिए मैं कम उलझन में नहीं पड़ रहा हूँ । सच बात तो यह है कि डाक्टर साहब इन बातों की कतई कोई परवाह नहीं करते । यहाँ तक कि एक दिन आपके खाने में मक्खी पड़ गई तो आपने यह कह कर कि मक्खी खाने से कै नहीं होती जिह्न वही खाना खाया और आज जाने क्यों ऐसी जिद पकड़े हैं कि जान पड़ता है कि जैसे आप पहले पहल ऐसी चाय पीने जा रहे हैं जिसमें मक्खी गिर गई हो ।"

डाक्टर साहब के गुस्से का पारा अब बहुत ऊँचा चढ़ गया था । उस समय मेरे बराबर झूठा और दग़ाबाज उन्हें दुनियाँ के दूसरा नहीं नजर आता था । मुरव्वत और संकोच से गला छुड़ा कर उन्होंने कहा, "मैं चाय नहीं पीता ।"

"अब सुनिए साहब, आप चाय ही नहीं पीते । यह तो कहिए कि हम लोग पक्की छत के नीचे बैठे हैं वरना इस सच्चाई के सब के जान पर आ बीतती ।" मैंने डाक्टर साहब की ओर बिना देखे ही कहा ।

"चाय से इन्कार करना बहुत बड़ा गुनाह है ।" मीर साहब ने कहा, "क्योंकि यह भी उसी परवरदिगार की बनाई हुई है जिसने दुनियाँ में और न्यामतें पैदा की हैं ।" यह कह कर उन्होंने फिर प्याला डाक्टर साहब के हाथ में दे दिया ।

"इसमें क्या शक है ?" मैंने कहा, "फिर अगर साइन्स के वसूल से भी देखिए तो चाय से इन्कार नहीं किया जा सकता क्योंकि साइन्स वाले तो इसको इन्सानी मशीन का पेट्रोल कहते हैं ?"

"सच ऐसा लिखा है ?' मीर साहब ने ताज्जुब में कहा, "जरूर लिखा होगा। शहरों में तो मैंने भी दीवारों पर लिखा देखा है कि गरमी में गरम चाय ठंढक पहुँचाती है।

"जी हाँ, और बरसात में छाते का काम करती है।" मैंने छूटते ही कहा।

"भई क्या बात कही है" मीर साहब बोले, "डाक्टर साहब अब देर न कीजिए नहीं तो आपकी यह छतरी या बरसाती ठंडी हो जायगी।"

मैंने कहा, "जी हाँ ! काल्ह करे सो आज कर, आज करे सो अब; पल में परलै होत है, फेर करोगे कब ?"

मैंने चुपके से सिर उठाकर डाक्टर साहब की ओर डरते-डरते निगाह दौड़ाई तो देखा कि उनका क्रोध वैराग्य के किनारे तक पहुँच गया है। उन्होंने खीझ कर प्याला उठाया और शंकर के हलाहल की तरह एक ही साँस में मक्खी की चाय पीकर प्याला मेज़ पर पटक दिया।

स्टेशन से गाड़ी की खबर पाकर मैंने मीर साहब से इजाज़त माँगी और बाहर आया। डाक्टर साहब मारे गुस्से के चुप थे और मैं मारे डर के ताँगे के पास आकर मैंने जब डाक्टर साहब से उस पर बैठने को कहा तो वे बड़ी ही रुखाई से बोले, "बस अब मुझे माफ कीजिए।" और वे हमारी विनीत प्रार्थना को ठुकरा कर पैदल ही घर लौट आए।
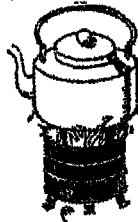
अपनी बीवी साहिबा के शौक के बारे मे कहाँ तक अर्ज करू । एक दो हो तो गिनाये भी जावे लेकिन यहाँ तो रोज ही नये-नये शौक पैदा होते रहते है । अब इधर साल भर मे उन्हे पशु-पक्षियो के पालने का जो नया शौक पैदा हुआ है बस उसका हाल न पूछिये । कोई चिड़िया वाला दिखाई पडा नही कि उनकी एक न एक फरमाइश मौजूद है । अपने दरवाजे पर किसी चिड़िये वाले को आते देख कर इतने ध्यान से अखबार पढने लगता कि सर ऊपर न उठता । लेकिन इससे बीबी साहिबा की भाषण स्वतन्त्रता मे जरा भी कमी न आती ।

"कैसे प्यारी सी चिड़िया है ? रग तो देखिए इसका ! जैसे अभी रगरेज के यहाँ से चली आ रही है । कैसी सुडौल चोंच है । और आँखे ? आँखे तो एक जगह ठहरना ही नहीं जानती । इतनी चिड़ियों मे बस यही रानी जैसी लगती है ।"

"अरे आप तो उधर देख रहे है ? मै इतनी देर से बक रही हूँ और आपके लिए जसे कोई बात ही नही । हाय-हाय कैसे बेरहम होते है ये चिड़िये वाले । छोटे से पिजड़े मे कितनी सारी चिड़ियाँ भर रखी है । जैसे इनके जान ही नही होती । अपने यहाँ के उस बड़े पिजड़े में यह बड़े सुख से रहेगी । क्यों ठीक है न ?"

मैं यह सब सुन कर चुप ही रहना ज्यादा बेहतर समझता क्योंकि उनसे कहता तो कैसे कहता कि उस बड़े पिंजड़े में जिसकी इतनी तारीफ़ हो रही है एक दो नहीं पचासों चिड़ियाँ अकेली रह कर इस लोक से परलोक सिधार गई और अब जान पड़ता है कि इसकी पारी आ गई है। इससे चुप ही रहना ज्यादा ठीक था। क्योंकि मेरे कहने न कहने से उस गरीब चिड़िया की जान तो बचेगी नहीं क्योंकि जब यम-राज के दूत उसकी तलाश में रवाना हो चुके हैं तभी तो वह मेरी बीबी साहबा की आँखों में इस तरह गड़ी है।

इस तरह किसी जानवर का बच्चा उनकी निगाह तले पड़ भर जावे तो बस समझ लीजिए कि उसकी जिन्दगी के दिन इने गिने ही रह गये हैं। जब तक वह खरीद कर घर न आ जाता मेरी बीबी साहबा को चैन नहीं पड़ती और जब तक उस बेचारे की रूह उसका शरीर छोड़ कर भाग न जाती, वे ठंडी सांस न लेतीं। इस तरह पचासों परिन्दे और बीसियों दरिन्दे हमारे घर में देखते-देखते बलिदान हो गए लेकिन हमारी बीबी साहबा हैं कि अपने शौक के लिए बारहों महीने नौरात्रि मनाये जा रही हैं।

एक बार वाराणसी गया तो उन्हें न तो काशी विश्वनाथ के दर्शनों की याद आई और न सारनाथ की। बस फ़िक्र थी तो सिर्फ़ इस बात की कि कब शाम हो और घंटा घर के पास चल कर चिड़ियों का बाजार देखा जावे। यही रटते-रटते उनका वह दिन किसी तरह बीता।

मैं अपने काम से दोपहर ही को बाहर चला गया था। शाम को लौट कर देखता क्या हूँ कि कमरे में मेज के पाये से एक लंगूर साहब बँधे बैठे हैं। मेरी बीबी साहबा उन्हें कुछ खिलाने की कोशिश कर रही थीं और वे जैसे अपना भविष्य जान कर पहले ही से अपना चोला छोड़ने की तैयारी में लग गये थे।

मुझे देखते ही बीबी साहबा बोलीं, "देखिए न कितना प्यारा सा

बच्चा है। कैसी आँखें मटका रहा है। जैसे सब बातें समझ रहा हो।"

मैंने कहा, "जी हां क्यों न समझेगा, इतनी देर से आपके हमराह जो है। घर पहुँचते शायद बातचीत भी करने लगेगा।"

बीबी साहबा ने तुनक कर मुँह फुला लिया। मैंने कहा, "खैर यह सब तो ठीक है, लेकिन यह मोटर में चलेंगे कैसे ?"

मेरी बीबी साहबा ने कहा, "हम लोगों के लिए मोटर में जगह है तो क्या इस बेचारे को उसमें एक बालिश्त जगह ही न मिलेगी ?"

"बालिश्त भर क्यों, जगह तो हाथ डेढ़ हाथ मिल जावेगी। लेकिन कौन इसे अपने पास बैठालेगा ?" मैंने पूछा।

"आप इसकी फिक्र न करें, मैं सब ठीक कर लूंगी।" बीबी साहब ने बेफिक्री का भाव दिखाते हुए कहा।

लिहाजा मैंने फिक्र नहीं की। लेकिन मुझे जिस बात का डर था अन्त में वही हो कर रहा। जब हम लोग चलने लगे तो लंगूर साहब ब्रेक के डंडे से बांध कर पावदान पर बैठाल दिये गये। हम लोग थोड़ी ही दूर गये थे कि मोटर के इंजन की गरमी से उन्होंने उछल कूद मचानी शुरू कर दी और इतना ही होकर बस नहीं हुआ। ड्राइवर ने जब उन्हें हाथ से दबा कर बैठालना चाहा तो आपने उसका हाथ इस जोर से चबा लिया कि मोटर का चक्का उसके हाथ से छूट गया और गाड़ी सड़क से नीचे उतर गई। हम लोगों के सर तो आपस में टकरा कर किसी तरह बच गए लेकिन लंगूर साहब मय रस्सी के जो मोटर के बाहर कूदे तो उनकी कपाल क्रिया हो गई। बेचारे काशी छोड़ कर मगहर में शहीद हो गये।

इन चन्द वाकयात से आपको मेरी मुसीबत का कुछ अन्दाजा तो लग ही गया होगा। अब हाल की एक मुसीबत का बयान भी सुन लीजिए।

पिछले साल जब मैं नैनीताल गया तो बीबी साहबा का यह नया शौक अपनी बुलंदी पर था। लेकिन मुझे थोड़ा इतमीनान भी था कि

वहाँ पहाड़ पर न तो चिड़िया वाले ही दिखाई पड़ेंगे और न लंगूर और भालू के बच्चों का बाजार ही वहाँ लगता है। दो-तीन महीने आराम से कटेंगे। लेकिन दो-तीन महीनों की कौन कहे दो-तीन हफ्ते भी न गुजरे कि एक दिन बीबी साहबा एक कुत्ते की पिल्ली लिए हुए कोठी में दाखिल हुईं। मेरा जी सन से हो गया। इसका तो मुझे ख्याल ही नहीं रह गया था कि पहाड़ों पर कुत्ते के पिल्ले इतनी कसरत से बिका करते हैं।

बीबी साहबा पिल्ली को मेज पर रख कर बोलीं, कैसी नन्हीं-मुन्ही सी पिल्ली है? जैसे ऊन की बनी हो। वह तो कहिए मैं मौके से पहुँच गई, नहीं तो यह हाथ से निकल गई थी। इतने सस्ते में इसे खरीद लाई हूँ कि आप सुन कर हैरान हो जावेंगे। अरे आप बोल क्यों नहीं रहे हैं? अच्छा इसका दाम बताइये तो जरा?"

मुझे खामोश देख कर फिर उन्होंने कहा, "आप बोलते क्यों नहीं? बताइये न कितने की होगी यह?"

मैंने खीझ कर कहा, "होगी आठ दस आने की!"

"क्या बात कही है? आठ दस आने की?" उन्होंने झल्ला कर कहा, "मुंह धो रखिये। आठ दस रुपये के तो ऊन के खिलौने मिलते हैं जिनमें भूसा भरा रहता है। यह तो असली स्पैनियल है। इसकी पिडिगरी मौजूद है।" बीबी साहबा का लेक्चर इतने पर भी खतम नहीं हुआ। उन्होंने फिर कहा, "सौ रुपया मांग रहा था। वह तो कहिये मैंने घंटों हुज्जत की तब जाकर कहीं पचास रुपये में मुशकिल से तय हुआ। मैं तो फिर भी कहूँगी कि यह मुझे बहुत वाजिब कीमत पर मिली है।"

"आपने लूट लिया उसे" मैंने खीझ कर कहा, "उसकी आँखों में धूल झोंक दी। बेचारा कहीं इसी सदमें में मर न जावे?"

"आपको तो मेरी हर एक बात जहर ही लगती है" कह कर मेरी बीबी साहबा दूसरे कमरे में चली गईं।

खैर साहब, उस पिल्ली का नाम रखा गया गोली क्योंकि चलते समय मेरी बीवी साहबा को ऐसा लगता था कि वह जमीन पर गोली की तरह लुढ़क रही है।

गोली का इतना प्यार दुलार हुआ कि उन्होंने कोई गुण सीखने में कोर कसर न उठा रखी। कलम, पेंसिल, जूते-चट्टी जो कुछ भी उनके सामने पड़ जाता था वे उसे फौरन चबा डालती थीं। इतना ही नहीं उन्होंने एक बात और सीखी थी कि किसी को सोता हुआ पाकर आ दोनों पैर चारपाई पर रख कर बड़े इतमीनान से उसका मुंह लप से चाट लेती थीं।

खैर और चीजें तो मैं किसी तरह जब्त कर जाता था लेकिन यह मुंह चाटने वाली हरकत तो नाकाबिले बरदाश्त थी। कितनी ही खानदानी या गिडिगरी वाली कुतिया क्यों न हो लेकिन उसका रोज-रोज मुंह चाट लेना तो कोई सहने वाली बात नहीं है। मैंने रोज उन्हीं चित्रगुप्त महाराज की याद करता जो उस कुतिया का परवाना फाइल से निकालने में इतनी देर कर रहे थे।

जैसे-तैसे करके हम लोग नैनीताल से लखनऊ लौटे लेकिन यहाँ एक हफ्ता भी न बीतने पाया था कि दिल्ली से तार आया कि मामा जी सख्त बीमार हैं। हम लोग तार पाते ही दिल्ली के लिए रवाना हो गये।

दिल्ली में जगह की वह कोताही कि बस कुछ न पूछिये। सड़क की ओर एक छोटा सा कमरा रहने को मिला तो समझिये यही बहुत था। उसी में मुझे बीबी साहबा और गोली इन तीनों को गुजर करना पड़ा। दो ही तीन दिन में जी ऊब गया। बाहर करफ्यू के मारे निकलने की मनाही थी और भीतर उसी कमरे में बीबी साहबा की ताना बोली और गोली के हमले पर हमले होते। दोनों की जबान मौके-मौके से चला करती। तबियत बहुत करती कि बाहर चले जावें लेकिन बाहर फ़ौजवालों का ख्याल आते ही फिर सारा उत्साह मन्द पड़ जाता। अच्छी चूहेदानी

में जा फँसा था। और मामा जी थे कि जल्द कुछ फैसला करने को तैयार नहीं होते थे। किसी तरह दो दिन और बीते। तीसरे दिन शहर में दंगा हो ही गया। चारों तरफ शोर गुल, हुल्लड़ बाजी, मार-काट बस यही सुन पड़ता था। ७२ घंटे का करफ्यू लगा दिया गया। अब तो घर लौटने की जो कुछ आशा थी वह भी चली गई। उसी कमरे में बन्द बन्द जी ऊब गया। और गोली की मुह चाटने की आदत से तबीयत इतनी झुझला गई कि अपना गुस्सा रोकना मेरे लिए मुश्किल हो गया। उसे चारपाई पर पैर रखते देखता तो डांट देता। कभी-कभी तो ऐसी नौबत आ जाती कि उसे चारपाई पर से ढकेल देना पड़ता लेकिन गोली मेरी डांट फटकार जैसे इस कान से सुनती और उस कान से निकाल देती।

धीरे-धीरे वह अवस्था आ गई कि मेरी सहन शक्ति ने जवाब दे दिया। एक दिन सवेरे जैसे ही गोली ने मेरा मुँह चाटा मैंने बड़ी जोर से उसे डांटा, "मैं अब गोली मार दूँगा तुम्हें।" लेकिन गोली ने दुम हिलाते-हिलाते फिर मेरा मुँह चाट लिया।

"किसको गोली मार रहा है?"

"नहीं मानोगी ?" मैंने गरज कर कहा, "मैं अब गोली मारता हूँ तुम्हें।" कह कर मैंने गोली को चारपाई से ढकेल दिया। उसको गिरते देख कर मेरी बीबी साहिबा इतने जोर से चिल्लाईं कि घर की कौन कहे सारा मुहल्ला गूँज उठा।

इतने ही में बाहर से दरवाजा ठेल कर चार फौजी जवान बन्दूक ताने मेरे कमरे में घुस आये। उन्हें देखते ही मैं चौंक कर चारपाई से कूद कर नीचे खड़ा हो गया। बीबी साहिबा भी संभल कर एक कोने में खड़ी हो गईं।

उनमें से एक सिपाही ने कड़क कर मुझ से पूछा "किस को गोली मार रहा है ?"

मैं इतना घबरा गया-था कि मेरी जबान जैसे तालू से चिपक गई। मुझे कुछ बोलते न देख उस फौजी ने फिर मुझे जोर से डांटा, "यह औरत कहाँ से भगा लाया है ? इसको गोली क्यों मारना चाहता है ?"

अब तो मेरे पैर के नीचे की जमीन खिसकती हुई जान पड़ी और आँखों के सामने जैसे अँधेरा सा छा गया।

इसके बाद किस तरह उन लोगों से मेरी जान बची और किस तरह मैंने उनको यह साबित किया कि मेरी बीबी साहिबा दरअसल मेरी अर्द्धाङ्गिनी हैं और उनकी दुलारी कुतिया के शुभनाम से उन लोगों को यह गलतफहमी हो गई है इसका अनुमान आप लोग स्वयं ही करें।
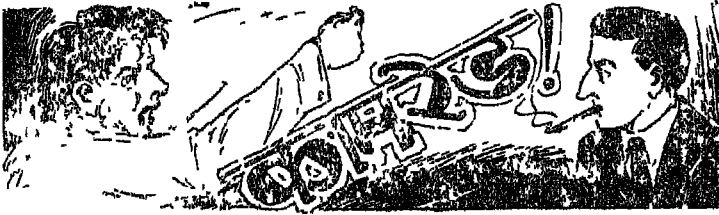
मुझे कामरेड बहुत अच्छे लगते हैं। क्यों अच्छे लगते हैं यह नहीं जानता। लेकिन बस अच्छे लगते हैं, यह जरूर जानता हूँ।.........लेकिन मेरे मित्र का हाल इसके बिलकुल विपरीत है। उन्हें कामरेडों से न जाने क्यों बेहद चिढ़ है और उन्हें पसन्द हैं आजकल के नवीन और नवीन ही नहीं प्रगतिशील कवि।

मेरी और मेरे मित्र की करीब-करीब रोज ही इसी बात पर बहस होती है। लेकिन न तो वे ही अपनी पसन्द में कोई तब्दीली ला सके और न मैं ही उनकी राग का हो सका। नतीजा उसका यह हुआ कि आज आठ दस साल का जमाना हो गया, लेकिन जहाँ से शुरुआत हुई थी, उसी के आस-पास हम लोग आज भी चक्कर लगा रहे हैं।

कविता से मुझे नफरत नहीं बल्कि यूँ कहिए कि एक तरह से प्रेम ही है। लेकिन दिक्कत यह पड़ती है कि मेरी काव्य-पिपासा इन नवीन कवियों की रचनाओं से शान्त नहीं हो पाती। मेरे पसन्द की कविता अगर आजकल कहीं मिल भी जाती है तो उसको पढ़ने वाले नहीं मिलते। उसको सुनाने वाले कवि लोग धीरे-धीरे अब लुप्त होते जा रहे हैं। फिर जब सुनाने वाले ही न रहे तो कविता को किताबों में पढ़ लेने में रह ही क्या गया। लेकिन मेरे मित्र इसे नहीं मानते। सूर, तुलसी आदि कुछ महाकवियों को शर्मा शर्मी थोड़ा बहुत वे चाहे मान भी लें

लेकिन आजकल के कवियों के आगे वे किसी प्राचीन कवि का नाम भी सुनाना नहीं पसन्द करते और कामरेडों के नाम से तो वे बरा पलीता हो जाते हैं।

रोज़ की तरह आज भी हम लोगों के बीच वही चर्चा छिड़ी थी।

मेरे मित्र कह रहे थे, "आप इन लोगों को कवि कहते है? कवि नहीं इन्हें तो भाट कहना चाहिए। किसी राजा के दरबार में गये तो सौदागरों की तरह खिलौनों की तरह हर किस्म की नायिकाओं को फैला दिया। और ज़रा सी खातिरदारी में कमी हो गई या कहीं आटा थोड़ा मिला या नमक कम हो गया कि बस महाब्राह्मनों की तरह भड़ौआ लिख कर लगे गंदगी फैलाने। ज़रा इनकी रचनाएँ तो पढ़िये। आपको स्थल-स्थल पर उनकी विलासिता और उड़प्पन की बानगी देखने को मिलेगी।"

"फिर आपने पढ़ने का सवाल खड़ा किया।" मैंने बीच ही में रोका, "मैं आपसे कई बार अर्ज कर चुका हूँ कि कविता की तीन चौथाई अच्छाई बुराई हमारे आपके पढ़ने से नहीं बल्कि स्वयं कवि के पढ़ने के ढग, उसकी शकल-सूरत और उसकी पोशाक पर मुनहसिर रहती है।"

"यह अजीब तर्क है आपका।" मेरे मित्र बोले। "अजीब नहीं बिलकुल सही कह रहा हूँ।" मैंने कहा, 'पद्माकर, देव, बिहारी, या किसी प्राचीन कवि की शृंगार से डूबी हुई कविता आजकल के किसी दुबले सुबुक से नवयुवक कवि से, जो खद्दर की धोती कुरता पहने हो और सुनहरी कमानी का ऐनक लगाए हो, पढ़वाकर देखिए न। आपको रत्ती भर भी मजा न आवेगा। वही कविता किसी ब्रजभाषा के प्रेमी कवि से, जो अब भी कहीं-कहीं खोजने से मिल सकते हैं, पढ़ाइए तो आपको फ़र्क मालूम होगा। मेरे यहाँ एक कवि जी आते हैं। ६० की उम्र है लेकिन अब भी वही दमखम क़ायम है। खिजाब से दाढ़ी मूँछ और काकुल इस सफाई से रंगी रहती है कि मजाल क्या जो कोई एक भी सफ़ेद बाल निकाल दे। आँखों में सुरमा, तांबूलरंजित ओठों पर वही जवानी की

मुसकान आज भी खेला करती है। सर पर चमकीली टोपी, धोती पर जामेवार की अचकन और कंधे पर किसी दरबार में पाया हुआ दुशाला पड़ा रहता है। लेकिन साहब जिस वक्त कविता सुनाने लगते हैं तो बस न पूछिए। जान पड़ता है खुद शृंगार रस मुजस्सिम सामने खड़ा है। अब मैं कैसे मान लूं कि उसी कविता को किताब में पढ़कर उतना ही लुत्फ उठाया जा सकता है?"

"यह तो कोई दलील नहीं हुई।" मेरे मित्र ने कहा, "कविता की कसौटी तो यह है कि सब लोग पढ़कर भी उससे उतना ही रस ले सकें जितना सुनकर। आजकल की कविता में आप यही बात पायेंगे।"

"हरगिज नहीं" मैंने कहा, "आजकल के कवियों के बनने ठनने पर बंदिश लगा दीजिए और उन्हें नाक के सुर कविता पढ़ने से रोक दीजिए तो वे कविता पढ़ने को तैयार ही न होंगे। यही क्यों आजकल के किसी कवि की कविताओं का संग्रह मैकानो या किंडरगार्टन की शक्लों की तरह न छपवा कर, उसी तरह एक सिलसिले में छपवा दीजिए, जैसे सूरसागर, सुखसागर आदि छपी हैं तो यकीन मानिए शायद लाखों में दो एक ऐसे निकलेंगे जो उसे पढ़ने का दर्द सर मोल लें।"

"आपकी इन बातों का कोई अर्थ नहीं है।" मेरे मित्र ने फ़तवा दिया।

"लीजिए, मैं इतना कह गया और आप उसका अर्थ ही न निकाल सके।" मैंने मायूसी के स्वर में कहा।

मेरे मित्र कुछ कहना ही चाहते थे कि सड़क पर रोज की पहचानी हुई सीटी सुनाई पड़ी और साथ ही साथ मेरे मुहल्ले के कामरेड भी दिखाई पड़े।

मेरे मित्र की भवें चढ़ गईं, बोले, "शाम हो गई न अब चले हजरत किसी मिल के फाटक की ओर। जान पड़ता है जैसे सारे मजदूरों के पुरसाहाल बस ये ही हैं।"

"मुझे तो भाई बहुत अच्छा लगता है यह।" मैं बोला, "जिस समय गोधूली बेला में हमारा यह कामरेड मूंगफली खाता हुआ फुटपाथ पर एकाकी चलता है, उस समय ऐसा जान पड़ता है कि जैसे सारे विश्व की वेदना साकार हो कर शिथिल चरणों से रेंग रही है।"

"क्या बात है।" मेरे मित्र ने खीझ कर कहा।

"तुम तो भाई न जाने क्यों बेकार इनसे चिढ़ते हो।" मैंने कहा।

"जरूर चिढ़ता हूँ। मुझको इन सब की सूरत से चिढ़ है। टकाचोर हैं सब।" मेरे मित्र ने आवेश में आकर कहा।

"भाई तुम्हारी बातों का कोई अर्थ नहीं है। मैं राजनीति में कतई दखल नहीं देता और न मुझे अलग-अलग के वादों में कुछ ज्यादा भेद ही मालूम पड़ता है लेकिन बजात खुद मुझे न मालूम क्यों कामरेड बहुत प्यारे लगते हैं। और किसी से न भी हो लेकिन ये आपके इन नये कवियों से तो अच्छे ही हैं।" मैंने बड़ी नम्रता से कहा।

"क्या खूब! मेरे मित्र बोले, नवीन कवियों से अच्छे हैं ये? जरा अपना मुंह तो जाकर पहले शीशे में देख आवें। फिर कवियों की बराबरी करेंगे। हमारे बाज-बाज आधुनिक फैन्सी कवि जितना तेल अपने केशदाम में रोज लगा डालते हैं उतना इनको कभी देखना नसीब न हुआ होगा। पर आपसे कौन बहस करे। आप तो व्यक्तिगत आक्षेप करने लगते हैं कि आपके यहाँ आने वाला फला कवि जो कि खिजाब लगाए हुए था, जिसके नेत्र अंजनसार थे, जो ऐसा था, जो वैसा था वही ब्रजभाषा की कविता पढ़ सकता है और बाकी सब तीन कौड़ी के हो गये।"

"इस समय तो आप भी वही कर रहे हैं।" मैंने बीच में ही टोककर कहा।

"हाँ व्यक्तिगत आक्षेप मैंने जरूर किया है।" मेरे मित्र बोले, "लेकिन यह ही सोहबत का असर है। खैर इसे छोड़िए और पहले यह बताइए कि आप कामरेडों की तुलना भला इन नवीन कवियों से कैसे

कर सकते हैं, जिन्होंने स्वतः सुखाय लिख कर अपना और जनता का समय नहीं बरबाद किया बल्कि जो हमारी हिन्दी भाषा की धारा को एक निश्चित मार्ग की ओर ले जाने का प्रयास कर रहे है।"

"कौन सा निश्चित मार्ग ? खुदकशी का ?" मैंने प्रश्न किया।

"क्या मतलब आपका ?" मेरे मित्र ने जिज्ञासा की।

मेरा मतलब यही है कि इन आधुनिक कवियों में से ८-१० को छोड़ कर मुझे पहले तो इनकी कविताएँ समझ ही में नहीं आती और जो थोड़ी बहुत समझ मे भी आती हैं उनको पढ़कर मुझे यही लगता है कि जैसे ये सब के सब आत्म हत्या करने पर ही उतारू हो गये हैं और इसके अलावा उनकी और कोई इच्छा ही इस ससार में बाकी नहीं रह गई है।"

"यह तो किसी तस्वीर का एक ही पहलू देखना हुआ।" मेरे मित्र बोले, आपको अनुभव नहीं है तभी आप ऐसी नासमझी की बात कह रहे हैं। वेदना की अधिकता से जब संसार सूना-साना सा लगने लगता है और जब मिलन अनन्त की ओर जाकर किसी अज्ञात परदे में छिप जाता है तो उस समय भावुक-हृदय कवि यदि इस क्षणभगुर शरीर का मोह छोड़ कर अपना अस्तित्व ही मिटा देने की कामना करने लगता है तो उसमें आश्चर्य की कौन सी बात है ?"

"तो क्यों न ऐसे टूटे फूटे सितारनुमा कवियों को राकेट में भर कर चंद्रलोक भेज दिया जावे ? क्षणभंगुर शरीर रूपी वीणा को वहीं जाकर आराम से बैठ कर बजावें, मैंने कहा, "आप भी इनकी तुलना कामरेडों से करते हैं ? जिन्होंने अपना सारा जीवन जनता की निःस्वार्थ सेवा के लिए दे दिया है।"

"क्या बात कही है आपने ?" मेरे मित्र बोले, "ऐसे त्यागियों के पुण्य से ही यह धरती थमी है। मैं तो एक ढोंगी की, नहीं-नहीं आपके इन त्यागियों में से एक की, अपने हाथों से कुंदी कर चुका हूँ।"

"क्यों कैसे ?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"बात कुछ पुरानी हो गई है।" मेरे मित्र बोले, "लेकिन आपको सुनाए देता हूँ, जिससे आपकी आँखें शायद खुल जावें। तब यहाँ आज-कल की तरह रंग-रंग के कामरेड नहीं फैले थे। तब इनकी बस एक ही जात यहाँ थी और मैं केवल इतना ही जानता था कि विलायत से कोई राय साहब आये हैं, जिनके ये सब चेले चाँटे हैं। मैं अपने एक मित्र के यहाँ गया हुआ था। वहाँ पहले ही से एक ऐसे ही कामरेड मौजूद थे। देखने में भोले भाले से थे। मैं धोखे में पड़ गया, जैसे इस समय आप पड़े हुए हैं। मुझे उस पर बहुत तरस आया कि किसी रईस का लड़का है और बेचारा घर छोड़ कर देश की सेवा कर रहा है। रात को सिनेमा देखकर लौटा तो क्या देखता हूँ कि कामरेड साहब मेरी चारपाई पर सो रहे हैं। मुझे बहुत दया आई और मैं चुपचाप एक कोच पर पड़-कर सो रहा। दूसरे दिन फिर वही हाल रहा। तीसरे दिन दोपहर को मैं अपनी चारपाई पर पड़ा हुआ पिछली रात की नींद की खुमारी मिटा रहा था और आने वाली रात के लिए तैयारी कर रहा था कि इतने में कामरेड महोदय अपने एक मित्र के साथ कमरे में आये। उन्होंने मुझे सोता हुआ जानकर अपने साथी से कहना शुरू किया, "बड़े मजे हैं यार यहाँ। रोज रात को इसी बेवकूफ पूंजीपति को इक्सप्लाइट करता हूँ। साले के पास कई जोड़ कपड़े हैं। चलते समय दो चार तिड़ी कर ले जाऊंगा तभी ईक्वल डिस्ट्रीब्यूशन होगा।" मैं गुस्से से बेताब हो गया और चारपाई पर से उठ कर उन कामरेड महाशय का सारा इक्सप्लाइटेशन वहीं दो चार घूँसे में निकाल दिया। तब से मुझे इन सबकी सूरत से नफरत है।"

"यह तो जनाब तसवीर का एक ही पहलू देखना हुआ। किसी एक व्यक्ति से किसी संस्था के सब लोगों के बारे में एक राय कायम करना उचित नहीं कहा जा सकता।" मैंने गंभीरता से कहा, "वैसे तो मेरे गाँव में भी एक नये-नये कामरेड हुए हैं जो बात-बात में लेनिन को

कसम खाते है और गाँधी जी को बेसाख्ता गाली देते है। शिव जी के साथ बुलगानिन की तस्वीर पर भी डलियो बेलपत्र चढा देते है लेकिन इसमे क्या धीरे-धीरे सब ठीक हो जावेगा। नया मुसलमान बहुत ज्यादा अल्लाह-अल्लाह करता ही है। अब इसमे अगर मै सब कामरेडो के बारे मे एक जैसी राय कायम करूँ तो इसे भला कैसे ठीक कहा जावेगा ?"

"दो चार घूँसे मे सारा इन्सल्फाइटेशन निकाल दिया।"

"ठीक क्यों न कहा जावेगा ? एक ही चावल से तो सारी हाँडी के चावलो का पता चल जाता है।" मेरे मित्र ने जोर देकर कहा, "फिर चाहे पता चले या नही, मै तो भाई इन सबसे कोसो दूर भागता हूँ क्योंकि जब से इनकी कई नसलें हमारे देश मे फैल गई है तब से इनमे आपस मे वह जूती पैजार होने लगी है कि भठियारिनें मात है। लेकिन दूसरी ओर हमारे नवयुवक कवियों मे यह बात न पाइयेगा। ड्रेस से, नाज़ो अन्दाज से, शकल सूरत से, सजधज से, चाल से, चटकन से, मटकन से, सब जुदा-जुदा, पर सब के सब जैसे एक ही रंग में रंगे हुए। सब को एक साथ देखकर एक प्रकार की एकता का अनुभव होने लगता है।"

"यह तो आप सरासर उलटी बात कह रहे हैं।" मैंने बीच ही में टोक कर कहा "एकता इनमें भीतर से नहीं बाहर से जरूर होती जा रही है। वही लंबे लंबे केश, वही नखसुर कविता पाठ और आपस में वही सखि ! सखि ! का सम्बोधन भले ही इन सबको ऊपर से एक नकेल में नाथे हों पर साहब जहाँ कवि सम्मेलन हुआ नहीं कि फिर देखिए इन सबकी तबेले वाली लताहुज लेकिन कामरेडों में आप यह बात हरगिज हरगिज न पाइयेगा। बातचीत, पोशाक, विचारधारा, बोलने का तरीका, यहाँ तक कि एक तरह का चेहरे का कट और सबके पास एक तरह के सामानों का सेट आपको देखने को मिलेगा। यही नहीं ड्रेस के मामले में तो इनमें यहाँ तक की एकता है कि कभी-कभी कामरेड और कामरेडिनों में कोई भेद ही नहीं रह जाता।"

"कैसे-कैसे ?" मेरे मित्र ने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

मैंने कहा, "भाई बात ऐसी है कि एक बार मुझे अपने एक मित्र की शादी में शामिल होना पड़ा। वे अब कामरेड जरूर हो गए हैं लेकिन स्कूल में सहपाठी होने का रिश्ता अभी तक मानते हैं। मुझे उन्होंने अपने कामरेड बरातिओं की खातिरदारी और मेहमानदारी का भार सौंपा। पहले तो मैं डरा कि वे सब बहुत झगड़ालू होंगे क्योंकि जब सब दिन भर बातें करते नहीं थकते तो मुझे तो परेशान ही कर डालेंगे। लेकिन साहब मैं तो दंग रह गया उन सबका रहन-सहन देख कर। न किसी को खाने की फ़िक्र न किसी को सोने की परवाह। फिर नहाने और हाथ धोने की कौन याद करता है। बस अगर उन्हें किसी बात की फ़िक्र रहती थी तो सिर्फ इस बात की कि कहीं बात का सिलसिला न टूट जावे। फिर खाना चाहे जैसा हो। चाहे जैसे बरतन में परोसा गया हो, कोई मुज़ायका नहीं। सब बातें करते-करते बड़ी खुशी से खा लेंगे। काँग्रेसी नेताओं की तरह देहात में जाकर सन्तरे के रस की फ़रमाइश नहीं करेंगे। सोने के मामले में भी वही लापरवाही देखी। न तो उन्हें चारपाई की जरूरत रहती थी न

बिस्तरे के लिए शिकायत करते थे। एक दरी बिछा दीजिए सब उसी पर चहकते-चहकते बसेरा ले लेते थे। मैं तो भाई जितना मुश्किल समझता था वे सब उतने ही आसान निकले..............।"

"यानी आप तो जब इन लोगों के बारे में बातें करने लगते है तो यह ख्याल ही नहीं रह जाता कि आखिर आप कहने क्या जा रहे है।" मेरे मित्र ने बात काट कर कहा।

"क्या कहने जा रहा था ?" मैंने पूछा।

"अच्छा ! अब यह भी बताना पड़ेगा ?" मेरे मित्र बोले, खैर सुनिये आप यह कह रहे थे कि पोशाक के मामले में भी उनको कुछ ज्यादा उलझन नहीं होती।"

"हाँ, ठीक" मैंने कहा, "भाई ? उनको भले ही उलझन न होती हो लेकिन मुझे तो बड़ी उलझन मालूम पड़ी। बात असल में यह हुई कि वहाँ कामरेडों के साथ दो कामरेडिनें भी आई थीं। और सब मामले में तो वे समता का व्यवहार रखती थीं लेकिन पोशाक उनकी जनानी ही थी। जब वे लोग रुखसत होने लगे तो मैं क्या देखता हूँ कि मोटरों पर दो के बजाय तीन कामरेडिनें बैठी हैं। मुझे यह देख कर बहुत अचम्भा हुआ। जब मेरी समझ में यह पहेली न आई तो मैंने मजबूरन अपने मित्र से इसका राज पूछा। उन्होंने सबके चले जाने पर बताया कि रात को नदी में नौका बिहार करते समय एक कामरेड पानी में गिर पड़े थे। उन्होंने मुझको या मेरे मित्र को कपड़ों के लिए बेवक्त परेशान करना ठीक नहीं समझा और एक कामरेडिन का फालतू कपड़ा पहन लिया। अब घर पहुँच कर वे अपने कपड़े बदल लेंगे।"

"सच ?" मेरे मित्र पास खिसक कर मेरा हाथ दबाते हुए बोले, "और तुम पहचान नहीं सके उसे ! ऐसा रूप भर लिया उसने ? भाई अब तो मैं भी इन लोगों के समाज में शामिल होने की...........।"

मेरे मित्र की बात खतम भी न होने पाई कि मेरे मुहल्ले के

कामरेड की चिरपरिचित सीटी फिर बजी। मेरे मित्र की भवें कामरेड को देखते ही तन गईं और भावी जीवन का जो चित्र उनकी आँखों के सामने झूल रहा था वह लिप पुत गया।

"रांड फ्रंट" कामरेड ने घूँसा तान कर लाल सलाम किया और फिर बिना रुके हुए ही वह अपने साथियों के साथ आगे बढ़ गया। मिल से लौटते हुए मजदूरों की टोली में वह उस समय खूब चहक रहा था।

मेरे मित्र कामरेड का लाल सलाम सुनते ही खड़बड़ा कर कुरसी से खड़े हो गये और अपनी छड़ी सँभालने लगे।

"क्यों क्या बात है ?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"घूंसा क्यों तान रहा था ? घूसाबाजी करने वाला था क्या ? मैं घूँसे का जवाब छड़ी से दूंगा।" मेरे मित्र ने उत्तेजित होकर कहा।

"वाह ! वह तो उनके सलाम करने का तरीका ही है।" मैंने हँसते हुए उन्हें बताया।

"अच्छा तरीका है कि भला आदमी डर जावे" बड़बड़ाते हुए मेरे मित्र अपने घर की ओर चले गए और हम दोनों आज फिर वहीं के वहीं रह गये जहाँ आज आठ-दस साल से हैं।
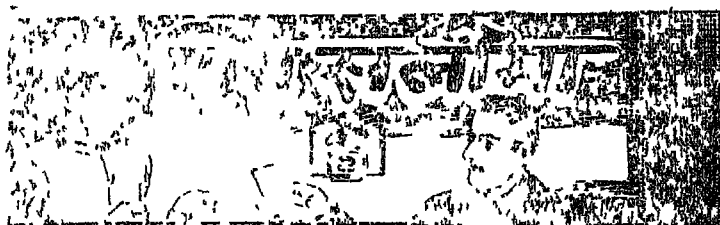
कहते हैं कि लखनऊ के वाजिदअली शाह जब अपनी बेगमों के लिए कैसरबाग की कोठियां बनवाने लगे थे तो उन्होंने कारीगरों को अपने कबूतरखाने का नक्शा दिखाया था लेकिन कबूतर उड़कर जब मटिया-बुर्ज चला गया तो धीरे-धीरे कबूतरियाँ भी उड़ गईं और उन काबुकों में रक्खे गये अवध के ताल्लुकेदार, जो सूबे के कन्हैया बटलर की मूर्ति को आज भी गोपियों की तरह घेरे हुए हैं।

कैसरबाग की इन्हीं पीली कोठियों के पूरब वाले सिरे पर एक जंगले-दार कोठरी में हम लोगों के मामू रहते हैं जो इस कहानी के चरित्र नायक हैं।

मामू का नाम कुछ न कुछ तो उनके वालदैन ने जरूर ही रखा रहा होगा लेकिन ५० साल पहले की उस बात को आज बहुत कम लोग याद रख सके हैं, और मामू को अब उनके सभी यार दोस्त यहाँ तक कि उनके छोटे बड़े रिश्तेदार तक मामू कह कर ही पुकारते हैं।

मामू तालुक़दार वंश के एक होनहार हीरा थे जो ठीक से न तराशे जाने की वजह से आज कंकण के मोल भी नहीं बिक रहे थे। लेकिन जो लोग उनको क़रीब से जानते थे वे और कुछ चाहे जानें न जानें

लेकिन इतना तो महसूस ही करते थे कि मामू इस जन्म में न सही लेकिन अगले जन्म में कुछ न कुछ जरूर कर दिखावेंगे ।

इस जन्म में भी उनके लिये कोशिश न हुई हो, सो बात नहीं । जैसा कि रईसों का क़ायदा है, माँमू को पढ़ाने-लिखाने का सब सामान घर पर मुहैया किया गया । लेकिन जैसा रईसों के लड़के करते हैं, माँमू ने भी वही किया और पढ़ने से ऐसी दुम दबाई कि आखिर तक न पढ़ा तो न पढ़ा । तीतर, बटेर, भेड़ और भेड़ जैसो आँख माँमू ने खूब लड़ाई और इन्हीं सबमें उनकी जिन्दगी के ३०-३५ साल बीत गए ।

आगे चलकर हालांकि सबकी आँखें एक दिन खुलती हैं लेकिन माँमू की आँख इसी ३५ साल की छोटी उम्र में ही खुली और वे इसी खेलने खाने की उम्र में ही एकाएक लखनऊ जानेको तैयार हो गये ।

माँमू लखनऊ कुछ घूमने की गरज़ से नहीं जा रहे थे, बल्कि कुछ जरूरत ही ऐसी आ पड़ी थी कि वे वहाँ जाने के लिए मजबूर हो गये थे । बात यह थी कि वे जिस रियासत के पट्टीदार थे वह कर्ज के दल्लत में एक अरसे से कोरट थी । वहाँ के नवाब तीसरोजा, जब तीस ही दिन में कई लाख का कर्ज करके न जाने कहाँ चले गये, तो रियासत को कोर्ट आफ़ वार्डस ने अपने इन्तजाम में ले लिया, जिससे जो कुछ कमी बाकी रह गई हो; वह भी पूरी हो जावे । सब पट्टीदारों को थोड़ी-थोड़ी रकम गुजारे के तौर पर बाँध दी गयी और वे लोग शरीफे के बीज की तरह इधर-उधर हो गये । माँमू को भी आँसू पोछने के लिए थोड़ा-सा गुजारा मिला लेकिन वह इतना कम था कि उनका काम घर के पुराने जेवरों के बेचने के बगैर किसी तरह न चलता था । जैसे-तैसे इन जेवरों के सहारे इतने दिन काटे गए लेकिन जब एक-एक करके वे भी साथ छोड़ कर चले गये तब जाकर कहीं माँमू की आँख खुली ।

आँख खुलने पर माँमू ने देखा कि दुनिया गोल है और वहाँ बिना अंग्रेजी जाने सब कुछ झोल है । उन्होंने अपनी आत्मा की पुकार सुनी,

और यह तै किया कि जैसे भी होगा अंग्रेजी बोलूंगा और अंग्रेजी में ही दरख्वास्त लिख कर बोर्ड साहब से अपना गुजारा बढ़वाऊँगा।

लेकिन यह सब होते हुये भी मांमू यह चाहते थे कि वे अंग्रेजी सीख भी जावें और किसी को कानों कान खबर न हो। वे इस राज को किसी पर जाहिर नहीं होने देना चाहते थे।

वैसे तो अगर वे चाहते तो घर पर ही अंग्रेजी पढ़ सकते थे लेकिन उनकी उम्र कुछ इस मंजिल तक पहुँच चुकी थी कि पढ़ाई छोड़ने के बीस साल बाद फिर से उस गड़े मुरदे को उखाड़ने में उन्हें बड़ी झिझक लगती थी। यही वजह थी कि वे घर से दवा कराने का बहाना करके लखनऊ अंग्रेजी सीखने जा रहे थे।

माँमू ने सोचा था कि लखनऊ में बड़े मजे रहेंगे। वहाँ जान पहचान के ज्यादा लोग तो हैं नहीं। जहाँ चाहेंगे घूमने चल देंगे और फिर जो मिलेगा उससे अंग्रेजी में ही बातें करेंगे। दूकानदार, ताँगे वाले, रास्ता चलने वाले, जो भी सामने पड़ेगा और जिससे भी मौका मिलेगा उससे बस अंग्रेजी में ही गुफ्तगू की जावेगी। लेकिन लखनऊ पहुँचने पर उन्हें मालूम हुआ कि दिल्ली दूर है और वहाँ पहुँचने में उन्हें इस चूहेदान में काफी दिन बिताने पड़ेंगे।

लेकिन मांमू जल्द हार मानने वाले आदमी न थे। वे अपने को उस मोगलिया खान्दान का वंशज लगाते थे जिसने भारत में आने का रास्ता ढूँढ़ लिया था फिर भला एक मामूली सी भाषा सीखने का मार्ग खोजना माँमू के लिये कौन सी मुश्किल बात थी। उन्हें बचपन ही से "यस" और "नो" ये दो शब्द मालूम थे। उन्होंने सोचा तब तक इन्हीं से काम चलाया जावे।

यही तै करके माँमू लखनऊ में जम कर रहने लगे। एक छोटा सा जंगलेदार कमरा मिला, तो उसी पर कनात कर गये। सफाई पसन्द आदमी थे। कुछ दिन तो उन्हें अपने कमरे की सफ़ाई और सामान

वगैरह ठीक करने में लगे। फिर उससे फुरसत मिली तो एक दिन बनसंवर कर घसियारी मंडी की ओर शाम को टहलने निकल पड़े।

इतने दिन जो वक्त खराब हुआ उसका मांमू को बहुत अफ़सोस था। इसी से आज व यह तै करके बाहर निकले थे कि बस अब आज ही से अंग्रेजी बोलना शुरू कर देंगे। घर से निकल कर वे कुछ ही दूर गये होंगे कि उनको अपने यस और नो के इस्तेमाल करने की उतावली ने घेर लिया। इधर-उधर देखते जा रहे थे कि किस पर इन दोनों तीरों का वार किया जावे कि सामने के मोड़ पर मोटर की बड़ी कर्कश पों-पों सुनाई पड़ी। वे चौंके तो पीछे से तांगे वाले ने ललकारा, घबरा कर एक बगल हट गये। कलेजा धक-धक करने लगा। न मुह से यस ही निकला न नो ही। जान बच गई यही क्या कम था। दिल मसोस कर घर लौट आये। पहला दिन इस तरह बेकार गया। दो-चार दिन मांमू ने और इसी कोशिश में लगा दिए वे लगन के आदमी थे। और फिर बदकिस्मती भी तो किसी शरीफ़ आदमी के पीछे हाथ धोकर नहीं पड़ती। मामू को भी उसने शिकायत का मौका न दिया और वे धीरे-धीरे अपने मुहल्ले में 'यस नो' का इस्तेमाल बखूबी करने लगे।

लेकिन आखिर ये दोनों लफ्ज मांमू का कहां तक साथ देते। मांमू को भी उन्हीं को बार-बार दुहराते-दुहराते अजीरन सा हो गया। उन्होंने सोचा कि कुछ और सीखे बगैर काम नहीं चलेगा। क्योंकि इन दो शब्दों से कुछ काम भले ही निकल जाता हो लेकिन तबीयत तो नहीं भरती। मजबूरन उन्होंने धीरे-धीरे उन लोगों से रब्त-जब्त बढ़ानी शुरू की जो ज्यादातर अंग्रेजी में ही बातें करते थे। उनकी जबान से फ़र्राटे की अंग्रेजी सुनकर मांमू मुग्ध होकर एकटक उन्हीं के मुँह की ओर ताकते रह जाते। फिर उनमें से दो-चार सीधे सादे लफ्ज जो उन्हें घर पहुँचने तक याद रह जाते उनका मतलब समझे बगैर ही वे उनको मन ही मन रटा करते। घर में कोई बड़ा आइना था नहीं, इससे वे हजामत

बनाने का छोटा शीशा एक हाथ में ले लेते और फिर शीशे में अपनी शक्ल देख कर उन्हीं लफ्जों को घंटों दुहराते और थक जाने पर खाना खाकर सो जाते। यही उनकी उन दिनों की दिनचर्या थी।

कुछ दिन इस तरह भी मांमू ने गुजारे लेकिन इससे भी उन्हें ज्यादा फ़ायदा न हुआ क्योंकि अंग्रेजी बोलनेवाले दूकानदार और मुहल्ले वाले धीरे-धीरे यह जान गये थे कि मांमू अंग्रेजी नहीं जानते। इससे वे अब उनसे हिन्दुस्तानी में ही बोलते। लाचार मांमू को अब ऐसी मित्र-मंडली तलाश करनी पड़ी जहाँ सिवा अंग्रेजी के और कोई बोली बोली ही न जाती हो। और "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ" के अनुसार मांमू को शीघ्र ही वह जगह मिल भी गई।

घूमते-फिरते मांमू एक दिन गोरों की छावनी की ओर चले गये। वहाँ जो नज्जारा उन्होंने देखा, उससे उनकी बाछें खिल उठीं। ढेर के ढेर लाल-लाल गोरे चारों ओर बीर बहूटी की तरह मैदानों में फैले थे। कोई इधर चला आ रहा था तो कोई उधर। कुछ हाकी फुटबाल खेल रहे थे तो कुछ बारिकों के दालानों में बैठे आपस में वही गिटपिट भाषा उड़ा रहे थे, जिसके लिए मामू इस क़दर बेकरार थे। एक गोरा सीटी बजाता हुआ और बेंत से अपना जूता पीटता हुआ माँमू के बगल से निकला। इन्हें भौंचक्का देखकर उसने पूछा, "मंकी ?"

मांमू का गला कुछ फँस गया था। खखार कर बोले, "यस"

वह बहुत हँसा। बोला "जू जाने माँगटा ?"

मांमू ने छूटते ही कहा, "नो"

उसे माँमू की हाजिर जवाबी बहुत पसन्द आई। और उसी वक्त से उसने माँमू से दोस्ती कर ली। माँमू को भला क्या उज्र होता। "अंधा चाहे दो आँख।" मामू तो यही चाहते ही थे। उस दिन से रोज शाम को बिला नागा वे छावनी पहुँच जाते और उस गोरे से दिल खोल कर बातें करते। इस दोस्ती को थोड़ा ही अरसा गुजरा कि उन्हें यह महसूस

होने लगा कि वे अँग्रेजी बोल तो नहीं, लेकिन समझने लगे हैं। फिर जब एक चीज समझ में आ गई, तो उसे जबान से कह देने में कितनी देर लगती है।

एक दिन छावनी से घर लौटकर, वे अपने जेबी शीशे में अपनी शक्ल देख-देख कर बहुत देर तक अँग्रेजी बोलते रहे। जब थक गये तो उन्होंने बड़े गर्व से मुस्करा कर शीशे को मेज पर रख दिया। अब देर करना फ़िजूल था। उन्होंने तय किया कि वे जल्द अफ़सरों से मिल कर अपना मामला तै करा लेंगे। वे कल्पना करने लगे कि जब बड़े साहब का हुक्म लेकर वे अपने जिले के कोरट के मैनेजर के पास पहुँचेंगे, और उससे अँग्रेजी में आंधी सी झोंक देंगे, तो वह कैसे अचम्भे में पड़ जावेगा। उसका चेहरा उस वक्त देखने काबिल होगा। तब हजरत को पता चलेगा कि यह वह गुड़ नहीं है जो चींटे खा जाते हैं। यहाँ तो उस खान्दाने मुगलिया का खून रगों में बह रहा है, जिसके शेरों ने बड़ी-बड़ी सल्तनतें चलाई हैं। एक सड़ी सी बन्दरों की जबान सीखने में भला कितनी देर लगती है ?

माँमू का हौसला अब बहुत बढ़ गया था। उन्होंने अपनी सारी स्कीम अपने यार दोस्तों को बता दी। लेकिन उनके साथियों ने उन्हें जल्दबाजी करने से टोका और उन्हें सलाह दी कि पहले वे अपने नाम के विजटिंग कार्ड छपवा लें, तब साहब से मिलें। कार्ड भेज कर मिलने का मजा ही दूसरा होता है।

मामू जिद्दी नहीं थे। दोस्तों की यह राय उन्हें जँच गई। दो चार दिन में हर्ज ही क्या हो जावेगा ? वे अपने मित्रों की मदद से कार्ड छपाने की फ़िक्र में पड़े। कार्ड छपने में भला क्या दिक्कत होती। एक हफ्ते के भीतर वे भी छप कर आ गये और मामू की एक मंजिल पार हो गई।

कुछ दिनों तक तो माँमू अपने कार्डों पर इस क़दर दीवाने रहे कि

गुर्रे ने फिर टूटी-फूटी गुर्राशाही अंग्रेजी में पूछा, "कहाँ है वह घड़ी ? मुझको दो ।"

मांमू ने कहा, "नो"

गुर्रे ने गुस्से से कहा, "यहाँ चोरी करने आता था ?"

मांमू बोले, "यस"

अब तो उसने मांमू को डाँट कर कहा, "हमारी घड़ी नहीं देगा ?"

मांमू ने फिर कहा' "नो"

इसके बाद गुर्रे को भला कहाँ ताब रहती । उसने लपक कर मांमू का कालर पकड़ा और उन्हें झकझोरते हुए अंग्रेजी में बार-बार यही पूछना शुरू किया, "घड़ी नहीं देगा ? घड़ी नहीं देगा ?" मांमूँ हर झटके पर एक बार कहते, "यस" और दूसरी बार कहते "नो" यहाँ तक कि उस हूश को भी यह समझने में देर न लगी कि उनके जिगरी दोस्त साहब उनकी मदरटंग के नाम पर सिवा "यस" और "नो" के और कुछ नहीं जानते । उसने आजिज आकर उन्हें छोड़ दिया । छूटते ही मांमू वहाँ से ऐसे उड़नछू हुए कि फिर उस ओर कभी झाँकने न गए ।

इस घटना से मांमू कुछ सहम जरूर गए लेकिन वे पस्तहिम्मत नहीं हुए । गुर्रे तो जंगली होते ही हैं । जान पड़ता है शराब ज्यादा पी गया था । तभी तो न जाने क्या गिटपिट-गिटपिट करके बुलडाग सा टूट पड़ा । ख़ैरियत हुई कि कोई जान पहचान वाला वहाँ नहीं था । लेकिन बड़े-बड़े आला अफसर ऐसे थोड़े ही होते हैं । वे ऊँचे खानदान से आते हैं । हाथ तक मिलाते हैं तो बड़े करीने से । आपके हाथ में अपना हाथ ऐसी मुलायमियत से दे देंगे कि जब तक चाहिए लिए रहिए । इन गोरों की तरह हाथ झकझोर नहीं डालते । उनकी बात ही कुछ दूसरी होती है । यही सब सोच कर मांमू ने अपने दिल में ढाँढस बँधाया । और जल्द-जल्द साहब से मिलने की तैयारी करने लगे ।

पहले मांमू ने अपनी पोशाक सँभाली । सफ़ेद गुरगाबी जूतों पर

साहब के यहाँ जाने का जैसे उन्हें ख्याल ही न रह गया। वे जब तक अपने मुहल्ले भर के सभी बडे आदमियों के यहाँ कार्ड भिजवा कर मिल न चुके, तब तक उनके सर का भूत न उतरा। जब मुहल्ले में सिर्फ वे ही लोग बच गये, जो शाम को मकान के बाहर अकेले कुरसी डाले बैठे रहते है या दिन को बाहर से पुकारे जाने पर खुद ही सुनने के लिये चले आते हे, तब मामू जाकर कही रुके क्योंकि वे जिसमें मिलने गये हे जब वही घर के बाहर आ जाता है, तब भला उसे कार्ड कैसे दिया जावे।

इस काम से निपटने पर मांमू को अपने गुर्रे की याद आई। बहुत दिनों में उससे भेट नही हुई थी। वे छावनी की ओर चल पडे। गुर्रा मिला तो, लेकिन बहुत खिचा-खिचा सा। उसने मामू की ओर बडी संदेह की दृष्टि से देखते हुए अंग्रेजी में पूछा, "तुम यहा से हमारी घडी उठा ले गया है"।

मामू ने अपना वही पेटेंट उत्तर दिया, "यस"

"तुम हमारी घड़ी ले गया है ?"

खड़िया पोती गई। जिन्होंने बड़ी सफाई से फटे हुए मोजों को अपने हृदय में छिपा लिया। छालटीन के कम पायचे के घुटन्ने पर के पान के दाग जब धोबी के यहां भी न छूट सके, तो उन पर खड़िया घिस कर उन्हें छिपाने की कोशिश की गई। फिर जालीदार बनियाइन पहन कर ऊपर से चुना हुआ तजेब का कुरता पहना गया। अचकनों की खोज में काफी वक्त लगा। जिनके बंद टूट गये थे उनमें बंद लगे। जिनकी बटन टूट गई थी उनमें बटन टांकी गईं। फिर जब उनके पहनने की पारी आई तो उनमें से आधी से ज्यादा ने एकदम इस्तीफा दे दिया। मांमू बड़ी परेशानी में पड़े। जो अच्छी-अच्छी अचकनें थीं वे ऐन वक्त पर धोखा दे गईं। क्या सब रखे रखे सिकुड़ गईं ? या बनियाइन इतनी मोटी है कि अचकनों का हक मारना चाहती है ? बनियाइन उतार कर बहुत खींच खांच कर एक को पहना, तो बटन लगाते ही उसके सब काजों ने बेतरह मुंह फाड़ दिया। मांमू लाचार हो गये। खीझ कर अपनी रोजमर्रा की अचकन पहनी और साहब के बँगले की ओर चले।

बंगले पर मिलने वालों का एक हुजूम सा लगा था। मांमू ने मौका पाकर चपरासी को अपना कार्ड दे दिया और एक पेड़ के नीचे बैठ कर इन्तजार करने लगे।

काफी देर इन्तजार करने के बाद कहीं मांमू की पारी आई। चपरासी ने दूर ही से इन्हें पहचान कर इशारे से बुलाया। मांमू पंजों के बल चलते हुए साहब के कमरे में दाखिल हुए और टोपी उतार कर बड़े अदब से झुक कर सलाम किया।

साहब इनको देख कर पहले तो चौंके। फिर कार्ड की ओर देखकर हिन्दुस्तानी में बोले, "यह कार्ड आप लाया है ?"

मांमू ने जवाब दिया, "यस सर !"

साहब ने कार्ड की ओर इशारा करके फिर हिन्दुस्तानी में पूछा, "आप इनका कौन है ?"

माँमू इस प्रश्न से घबरा गये। एक तो उनकी समझ में इसका मतलब ही न आता था। दूसरे उनका अँग्रेजी का दूसरा शब्द "नो सर" साहब के इस सवालिया जुमले के बाद इस्तेमाल ही नहीं हो सकता था। वे इसी सोच में पड़े थे कि साहब ने फिर पूछा, यह कार्ड जिसका है वह आपका कौन है ?"

मांमू अब और उलझन में पड़ गये लेकिन किसी न किसी तरह हिम्मत करके बोले, "हुजूर ! यह कार्ड मेरा है।"

साहब ने फिर हैरानी जाहिर करते हुए पूछा, "आपका ?"

मांमू ने उत्तर दिया, "यस सर मेरा।"

साहब ने कार्ड मांमू की ओर बढ़ाते हुए कहा, "इसमें तो मिस सलीमा लिखा है।"

मिस सलीमा ? मांमू यह नाम सुनते ही छटपटा उठे। जैसे किसी ने उन्हें चाबुक मार दिया हो। उन्हें कुछ सूझ न पड़ा। मारे घबराहट के वे साहब के हाथ से कार्ड लेकर कमरे से बाहर निकल आये और ऐसे बगटुट घर की ओर भागे कि फिर न कभी उनको साहब के पास गुजारा बढ़वाने के लिए जाने की हिम्मत पड़ी और न अँग्रेजी सीखने की।

रास्ते भर हर तरफ उन्हें अपने मुहल्ले की उस कलूटी नर्स "मिस सलीमा" की ही शकल दिखाई पड़ती थी, जिसके घर से एक दिन वे उसका कार्ड उठा लाये थे।

लखनऊ के काफी हाउस में बिलाई बाबू से मेरी पहली मुलाकात हुई। एक कोने की कुर्सी पर ढीली-ढाली धोती पहने जो साँवले रंग के साहब बैठे थे, उन्ही की ओर इशारा करते हुए मेरे दोस्त ने बताया, "आप ही हे बिलाई बाबू हमारे बहुत पुराने मित्र।"

बिलाई बाबू के थुल-थुल शरीर के ऊपर उनका गुड्डे जैसा सिर इधर-उधर घूम रहा था। अपनी कौड़ी जैसी आँखों को ढकने के लिए उन्होंने जो ऐनक लगा रखी थी, वह खिसक कर उनकी चपटी नाक के सिरे पर पहुँच गई थी। चेहरे पर चेचक के बहुत से दाग थे, जिन्होंने उनकी आधी से ज्यादा मूँछों को चर डाला था। बिलाई बाबू निरंतर बोल ही रहे थे। हम लोगों के बैठ जाने पर फिर उनके वार्त्तालाप की रेलगाड़ी चली। शिकार की चर्चा चल रही थी। बिलाई बाबू कहने लगे, "इसको मैं शीकार नहीं मानने सकता। चिड़िया का शीकार कोई शीकार है। मोटर में बैठकर पोखर पर चला गया। जहाँ तमाम चिड़िया भेरा है। फिर से बंदूक छोड़ दिया। बस हो गया शीकार। हमारे बंगाल का जंगल देखो तो डर जाओ। बंगाल टाइगर का नाम सुना है? बड़ा वाला इस्ट्राइप्ड लायन। एक ठो तुम्हारे लखनऊ में आ जावे तो सब शहर छोड़कर भाग जाय। उसका शीकार यहाँ का लोग नहीं करने सकता।"

मैंने कहा, तो चलिए बिलाई बाबू, इस बार हम लोगों के साथ शिकार में चलिए। हम लोग रीवाँ की ओर जा रहे हैं। वहाँ शेर भी मिल सकते हैं।"

"वेश वेश" बिलाई बाबू बोले, "हम जरूर चलेगा।"

दो महीने बाद हम लोगों के भीकार की तैयारी हुई। बिलाई बाबू ने पहले तो बहुत आनाकानी की। लेकिन हम लोग उन्हें पकड़ ही ले गए। कुछ दूर मोटर से, कुछ दूर हाथी से और फिर कुछ दूर पैदल चल कर हम लोग उस जगह पहुँचे जहां शिकार का इन्तजाम किया गया था। बिलाई बाबू शहर के रहने वाले आदमी थे। जिन्हें दिन में दस बार चाय न मिले तो मुरझा जावें। बघेल खंड के उस घोर जंगल में पहुँचे तो तबीयत झक हो गई। कभी दफ्तर तक पैदल जाना पड़ जाता था, तो लाल-पीला दिखाई पड़ने लगता था। हाथी के झकझोरों से दो ही मील में चीं बोल गए। गाँव में पहुँचते ही चारपाई पर पड़े तो फिर बोलने की सुध ही न रही।

मैंने चाय तैयार कराई। दो तीन प्याली चाय पीने के बाद कहीं उनका कंठ फूटा। बोले, "कैसा जंगली मुलुक में पकड़ लागा बाबा। यहाँ तो हम दो दिन में ही मर जायगा।"

मैंने कहा, "शिकार में तो तकलीफ होती ही है। शिकार मिल जायगा तो सब तकलीफ भूल जाइएगा।"

"तकलीफ से हम नहीं डरता बाबा, लेकिन यहां कुछ शिकार है नहीं। ऐसा जंगल में कहीं जानवर रहता है?"

उस दिन सब लोगों ने आराम किया। दूसरे दिन जब हाँके की तैयारी होने लगी तो बिलाई बाबू चारपाई पर लेट कर जोर-जोर से कराहने लगे। थोड़ी-थोड़ी देर पर उनकी होमियोपैथी की गोलियाँ चलने लगीं। ऐसी हालत में भला कैसे कोई उनसे शिकार पर चलने को कहता? हम लोग उन्हें घर पर ही छोड़ कर हाँके पर चले गए।

उस दिन कुछ ऐसा इत्तफाक हुआ कि हाँके मे कोई जानवर नही निकला। हम लोग खाली हाथ घर लौट आए। बिलाई बाबू ने सब हाल सुना तो चारपाई मे उठ कर बोले, "अरे बाबा ! हम तो कल ही से कह रहा है कि ऐसा जगल मे जानवर नही रहता। हमारा इतना उमर शीकार ही मे बीता है। हम जगल को देख कर बता सकता है कि इसमे कौन-कौन सा जानवर है।"

उस दिन बिलाई बाबू के चहकने के सामने कोई बोला थोडे ही सकता था। सवेरा होते ही पता चला कि पास के गाव मे एक तेंदुआ कई जानवर मार चुका है। शिकारियो ने रास्ते पर बकरी बाध कर बैठने की सलाह दी। दिन को तो जगह देख ली गई और एक पेड पर मचान बाध दिया गया।

"ऐसा जंगल में जानवर नही रहता"

बिलाई बाबू ने इसका बहुत विरोध किया। बोले, "यह सब बेकार की बात है। तेंदुआ क्या यहाँ पाला हुआ है जो शाम को ही आ जावेगा? ऐसा होता तो सब ही शीकारी न हो जाता? अरे बाबा! जान सबका प्यारा होता है। इतना शीकारी देख कर अब क्या यहाँ तेंदुआ बैठा होगा? ये जानवर शीकारी को सूंघ कर जान लेता है।"

शिकारी लोग बिलाई बाबू की बातों से तंग आ गए थे। एक ने कहा, "जान पड़ता है इन लखनौआ बाबू को डर लग रहा है। इसी से ये शिकार पर चलने से आगा पीछा कर रहे हैं।"

"हम डरता है?" बिलाई बाबू गरज कर बोले, "हम इसी छड़ी से तुम्हारा तेंदुआ मार सकता है। हमारे घर का पुराना लोग शेर को थका कर रुमाल से बाँध लेता था। तुम लोग शीकार क्या जानो।"

मैंने इस हुज्जत को रोक कर कहा, "चलिए बिलाई बाबू! इन बातों में क्या धरा है? यहाँ पड़े-पड़े क्या कीजिएगा? यहाँ रहने पर सचमुच लोग यही कहेंगे कि आप डर गए।"

बड़ी मुश्किलों के बाद बिलाई बाबू चलने को तैयार हुए और हम लोग ठीक समय पर मचान के पास पहुँच गए। मचान के सामने ही थोड़ी दूर पर एक खूंटे में लंबी रस्सी से बकरी बँधी थी। बिलाई बाबू के लिए यह एकदम नई चीज थी। सुनसान जगह देख कर वे कुछ सहम गए। पहले तो उन्होंने मचान की ऊँचाई पर एतराज किया, फिर बकरी को पास ही बँधी देख कर शिकारी से बोले, "इसको भी मचान पर क्यों नहीं बैठा लेते? इतने पास तेंदुआ आ जावेगा तो हमको तुमको खाएगा या इस बकरी को? इसे ले जाकर और दूर बाँधो। उस पेड़ के पास! गोली ५०० गज का मार करता है। यहाँ सिर पर लाकर बकरी बाँधा है। क्या तेंदुआ से कुश्ती लड़नी है?"

सबके बहुत समझाने पर बिलाई बाबू किसी तरह जी कड़ा करके मचान पर चढ़े। हमने मचान बड़ा देखकर एक शिकारी को भी साथ

बैठा लिया। मचान पर बैठ जाने पर मैंने बिलाई बाबू के हाथ में बन्दूक दे दी और उन्हें समझाया कि अंधेरा होने पर तेंदुआ जंगल की ओर से आएगा और कोई आहट न पाकर बकरी की ओर जायगा। उसी वक्त गोली चलानी चाहिए।

बिलाई बाबू अपनी धोती ठीक करने में लगे थे। मेरी ओर बिना देखे ही बोले, "आप ही चलाइए। आपका शीकार का नया शौक है। मेरा तो शीकार से जी भर गया है।" बिलाई बाबू को इस तरह निकलते देख मैंने और शिकारी ने तै कर लिया कि आज इनसे जरूर बंदूक चलवानी चाहिए। थोड़ी देर बाद जब काफी अंधेरा हो गया तो मैंने जान बूझ कर अपनी ऐनक मचान पर से गिरा दी।

"अरे ! मेरी तो ऐनक गिर गई।" मैंने घबराहट के स्वर में कहा। "अब क्या होगा ?"

"होगा क्या ?" शिकारी ने कहा। "अब चश्मा सबेरे मिलेगा। इस समय किसकी जान फालतू है जो नीचे उतरे। तेंदुआ जरूर यहीं कहीं छिपा होगा।"

"लेकिन मैं तो बिना चश्मे के बंदूक चला नही सकता।" मैंने कहा।

"तो काल ही सही। आज हम लोग चल कर आराम करें। काल फिर आया जायगा।" बिलाई बाबू बोले।

"लेकिन चलिएगा कैसे ?" मैंने कहा। "मचान से उतर सकते तो ऐनक ही न उठा लेते। कोई बात नहीं आज आप ही शिकार खेल लीजिए।"

बिलाई बाबू बुरी तरह फँस गए थे। कुछ बोलना ही चाहते थे कि मैने मुँह पर उँगली रख कर उन्हें बोलने से रोक दिया। उनके हाथ में बंदूक भर कर दे दी गई और उन्हें उस ओर उँगली से दिखा दिया गया जिधर से तेंदुए के आने की उम्मीद थी।

चाँदनी रात थी। जंगल का सारा अन्धकार सिमट सुकड़ कर जैसे पेड़ों के नीचे जमा हो गया था। बकरी चिल्लाते-चिल्लाते थक कर खूंटे के पास बैठ गई थी। हम लोग साँस रोके हुए उसी की ओर देख रहे थे कि इतने मे बकरी न जाने क्यों उठ कर खड़ी हो गई। हम लोग इधर उधर निगाह दौड़ाने लगे कि कहीं तेंदुआ तो नहीं आ रहा है कि एका-एक बिलाई बाबू का बंदूक चली धाँय! और बकरी खूटे के पास गिर कर छटपटाने लगी। छरों से उसकी टाँग टूट गई थी और वह मारे दर्द के जोर-जोर से चिल्ला रही थी।

बिलाई बाबू ऐसे खिसिया गए कि उनकी बोलती बन्द हो गई। शिकारी की तो बन ही आई थी। उसने ताने के शब्दों में कहना शुरू किया, "वाह बाबू! अच्छा शिकार मारा। बकरी ही मारना था तो पहले से ही बता देते। गांव में ही बकरी बंधवा दी जाती। नाहक सब को परेशान कर डाला।"

गाँव वालों ने सवेरे सब हाल सुना तो वह कहकहा लगा कि बिलाई बाबू उसी दिन बीमारी का बहाना करके लखनऊ भाग गए और फिर काफी हाउस में भी मुझे उनकी शकल देखने को न मिली।

श्रमदान

लखनऊ की नादान महल रोड पर नख्खास की ओर चलिए तो रकाबगज के पुल के पास, जो गली बाँई ओर मुडती है, उस पर थोड़ी ही दूर चलने पर चौराहे के पास जो खड़हरनुमा मकान दिखाई पड़ता है वही नवाब अम्मन की मशहूर नीली कोठी है। कोठी की चहारदीवारी गिर जाने पर भी उसका शाही फाटक अपने बत्तीसों दात निकाले आज भी किसी तरह अपने को सँभाले खड़ा है। एक जमाना था जब इस फाटक के भीतर किसी के जाने की हिम्मत नही पड़ती थी लेकिन आज कोठी का सारा अहाता मोहल्ले के लड़कों के खेल का मैदान बना हुआ है। फाटक में जो झाड़ फ़नूस का ढाँचा आप लटकता हुआ देख रहे हैं

उनमें किसी जमाने में जब पचासों मोमबत्तियाँ जगमगा कर मेहमानों का स्वागत करती थीं तो ऐसा जान पड़ता था कि सारे आसमान के तारे उतर कर नीली कोठी में इकट्ठा हो गए हैं। भीतर के खँडहरों में जहाँ आज गदहे चरते हुए दिखाई पड़ते हैं, वहाँ किसी समय अरबी घोड़े हिनहिनाया करते थे। लेकिन सब के दिन बराबर नहीं जाते और जो ऊँचाई पर चढ़ता है वही नीचे भी गिरता है। इसी से आज इस कोठी में रहने वालों की हालत ऐसी ख़स्ताहाल हो गई है कि उन्हें यही फ़िक्र सताए रहती है कि वसीका बंद हो जावेगा तो घर का चूल्हा कैसे गरम होगा।

लेकिन बावजूद इन सब परेशानियों के, इस नीली कोठी के मौजूदा नवाब साहब बहुत ही हरदिल अजीज वाकय हुए हैं। रुपये पैसे की कमी होते हुए भी उनमें एखलाक की कमी नहीं है। आज उनके यहाँ रईसों की भीड़ भले ही न लगती हो लेकिन मुहल्ले के आठ दस आदमी रोज शाम को अपना वक्त काटने के लिए नीली कोठी में जमा हो ही जाते हैं। इमामी टाल वाला, सिद्दीक बिस्कुट वाला, और पीरबख्श टेलर मास्टर शाम को जब अपनी दूकान से फ़ुरसत पाते हैं तो नवाब के यहाँ गप्पें मारने के लिए चले आते हैं। मौलवी शकूर, जिनकी मार के डर से मोहल्ले का कोई शख्श अपने लड़के को उनके पास पढ़ने नहीं भेजता, नवाब साहब के यहाँ रोज़ बिला नागा जाने वालों में से हैं। छंगू साह और द्वारका मोदी तो चिराग जलते ही अपने लड़कों को दूकान सौंप कर सरे शाम ही नवाब साहब के यहाँ आ जमते हैं। लेकिन नवाब साहब का दरबार तब तक पूरा नहीं होता जब तक वहाँ फिस्सू मियाँ नहीं पहुँच जाते। फिस्सू मियाँ के लिए नवाब साहब की आखें बिछी रहती हैं क्योंकि वे ही उस दरबार के बीरबल हैं।

नवाब साहब का दरबार सूरज डूबने के बाद ही से गरम होने लगता है और जब तक जनानख़ाने से खाने के लिए चार पाँच बुलावे नहीं

आ जाते तब तक दरबार बरखास्त होने की नौबत नहीं आती। न तो वहाँ ताश होता है और न शतरंज। वहाँ तो महज गप्पें मारने के लिए लोग इकट्ठा होते हैं और जिस तरह पनघट पर गाँव भर की औरतें जमा होकर परपंच करती हैं उसी तरह वहाँ मुहल्ले और शहर की ही नहीं बल्कि मुल्क और सारी दुनिया की हैरत अंगेज खबरों का तजकिरा होता है। जिससे सब का वक्त बड़ी खूबी से कट जाता है।

आज भी सब लोग हस्ब मामूल नवाब साहब की बैठक में जमा थे। अगर कमी थी तो सिर्फ फिस्सू मियाँ की। और यह एक ऐसी कमी थी जो नवाब साहब को बेहद खटक रही थी। ये ज़रा सी आहट पाते ही दरवाजे की ओर देखने लगते थे क्योंकि फिस्सू मियाँ के बगैर उन्हें किसी की बातों में कोई लुत्फ ही नहीं आ रहा था। लोगों ने नई-नई खबरें सुनाईं, तरह तरह के मसले पेश किए, लेकिन नवाब साहब का जी तक न बहला, जब तक फिस्सू मियाँ कमरे में दाखिल नहीं हुए।

फिस्सू मियाँ ठीक से कुर्सी पर बैठ भी न पाये थे कि नवाब साहब ने उलाहने के लफ्जों में कहा, "वाह मियाँ फिस्सू ! आज तो तुमने कमाल कर दिया। कहाँ इतनी देर लगा दी ?"

"क्या बताऊँ हुजूर" फिस्सू ने कुरसी पर इतमीनान से बैठ कर कहा, "रास्ते में एक एलान हो रहा था उसी को सुनने लगा था।"

"कैसा एलान ?" नवाब साहब ने पूछा।

"सरकार एलानों की क्या पूछते हैं। आज कल एलानों की भी कोई कमी है ? रोज ही ता एक नया एलान और एक नई जोजना सुनाई पड़ती है।" फिस्सू मियाँ ने कहा।

"आखिर कैसा एलान है कुछ सुनूँ भी तो।" नवाब साहब ने फिर पूछा।

"क्या बताऊँ हुजूर ! इस गौरमेंट में जो न हो जावे वही थोड़ा।

इन टोपी वालों की हुकूमत में तो जान पड़ता है सब भंगी ही बना कर छोड़े जावेंगे।" फिस्सू मियाँ ने कहा।

"अरे कुछ बताओगे भी या अपनी ही जोते जावोगे ?" नवाब साहब ने बेचैनी से कहा।

"क्या अर्ज करूँ हुजूर अब हम सब को "शरमदान करना होगा।" फिस्सू ने बताया।

"शरमदान ?" नवाब साहब ने ताज्जुब से पूछा।

"जी हाँ शरमदान" फिस्सू ने कहा।

"यह कौन सी बला है जिसका आप को कभी गुमान भी नहीं हो सकता। अभी तक जितनी जोजनाएँ आई हैं, वह सब इसके आगे हेच हैं।" फिस्सू मियाँ ने कहा।

"अरे भाई कुछ बताओगे भी या यूँ ही डराते रहोगे ?" नवाब साहब बेताब होकर बोले।

"हुजूर यह शरमदान जमींदारी सतियानाश कानून से ज्यादा कड़ा है। उसमें तो धन दौलत ही गई थी लेकिन इसमें तो आबरू भी नहीं बचेगी, ऐसा जान पड़ता है।" फिस्सू ने बताया।

"क्यों ?" नवाब ने पूछा।

"इसलिए कि अब महीने में एक बार हर एक शख्स को शरम-दान यानी बेगार यानी सड़क पर झाड़ू लगाना होगा।" फिस्सू ने कहा।

"क्या कहा झाड़ू लगाना होगा ?" नवाब ने घबरा कर कहा।

"जी हाँ झाड़ू ही नहीं जरूरत पड़ी तो मेहतर का काम भी करना होगा।" फिस्सू ने जवाब दिया।

"मेहतर का काम ?" नवाब ने बड़ी बेचैनी से पूछा।

"जी हाँ कह तो रहा हूँ कि शरमदान में सड़क की मरम्मत, सड़क की सफ़ाई, गढ़ों की पटाई, सोख़्तों की खुदाई वगैरह के अलावा अगर

इसकी ज़रूरत समझी गई कि गलियों का कूड़ा करकट या घूरे की सफ़ाई भी की जावे तो हर आदमी को पारी-पारी से यह काम भी अंजाम देना होगा।" फिस्सू ने समझाया।

"लेकिन इस जरूरत को समझेगा कौन ?" नवाब साहब ने दरियाफ्त किया।

"जनता, जिसका राज है। अब आया हुजूर की समझ में ?" फिस्सू ने जवाब दिया।

"भाई मुझे तो यह सब पहेली सी लग रही है।" नवाब ने कहा।

"जी हां अभी तो जरूर पहेली मालूम पड़ रही है। लेकिन परसों सवेरे जब सुतंनतरता दिवस को टोकरी और फावड़ा लेकर चलना होगा तब यह पहेली बहुत आसानी से समझ में आ जावेगी।" फिस्सू ने कहा।

"क्या कोई जबरदस्ती है ?" नवाब साहब ने पूछा।

"ज़बरदस्ती क्यों, यह तो जनता की सेवा है फिर अगर इसमें जबरदस्ती ही की गई तो इसको कोई जबरदस्ती थोड़े ही कहेगा।" फिस्सू ने बताया।

"क्या बुड्ढों को भी यह बेगार करनी होगी ?" मौलवी शकूर ने घबरा कर पूछा।

"बुड्ढों की टोकरी में कुछ कम मिट्टी रखी जावेगी, बस इतना ही फ़र्क रहेगा।" फिस्सू ने जवाब दिया।

"यह तो सरासर अंधेर है" मौलवी शकूर बोले।

"अंधेर क्यों यही तो सुराज है ? और मौलवी साहब जब आप टोकरी सर पर रख कर कूल्हे मटकाते हुए चलेंगे तो ,वल्लाह क़यामत बरपा हो जावेगी।" फिस्सू ने हँसते हुए कहा।

"मज़ाक छोड़ो फिस्सू। यह मजाक का मौक़ा नहीं है। मेरे तो हौल-दिल हो रहा है।" नवाब साहब ने बड़ी बेचैनी से कहा।

"तो क्या किया जावे हुजूर ! अब तो जो कुछ सर पर पड़ेगा उसे

तो झेलना ही होगा। चाहे हँस हँस कर झेलें चाहे रो-रोकर।" फिस्सू बोले।

"तो क्या इससे बचने की कोई सूरत नहीं है?" नवाब ने पूछा।

"मुझे तो बचने की कोई सूरत नजर नहीं आ रही है। हुजूर ही कोई सूरत निकाल सकें तो हम लोगों की भी जान शायद बचे।" फिस्सू ने कहा।

"मेरा तो दिमाग़ ही नहीं काम कर रहा है" नवाब साहब ने बड़ी मायूसी के लफ्जों में कहा।

"जब हुजूर ही हिम्मत हार बैठेंगे तो फिर हम लोगों की जान कैसे बचेगी।" फिस्सू मियाँ बोले।

"भाई इसमें सब लोग अपनी-अपनी अक़ल लड़ाओ" नवाब साहब ने बहुत बेताब होकर कहा।

"अगर हम लोग उस दिन शहर छोड़कर कहीं बाहर चले जावें तो?" मौलवी साहब ने पूछा।

"बाहर कहाँ जाइएगा, सात समुन्दर पार?" फिस्सू ने कहा "उस दिन तो आप जहाँ भी रहिएगा वहीं आपको शररमदान करना पड़ेगा। पन्दरा अगस्त को तो सारे मुल्क में सुतनतरता दिवस मनाया जावेगा।" फिस्सू ने कहा।

"देहात में फिर भी कुछ न कुछ सहूलियत तो रहेगी ही" मौलवी साहब ने कहा।

"सहूलित इतनी जरूर रहेगी कि वहाँ यह दुरगत देखने वाले यार दोस्त कम रहेंगे लेकिन मौलवी साहब वहाँ देहाती लोग अगर टोकरी में ज्यादा मिट्टी भर देंगे तो आपकी पतली कमर तो दोहरी हो जायेगी। फिस्सू ने ताना मारते हुए कहा।

"फिस्सू तुम्हारा मजाक इस वक्त जरा भी अच्छा नहीं लग रहा है।"

नवाब साहब बोले । "मैं बखुदा कह रहा हूँ मेरा दिल मारे घबराहट के बैठा जा रहा है ।"

"जी हां ! यहां तो हम लोगों की नौ दो लगी है और इनको अठ-खेलियाँ सूझ रही हैं। बेवक्त की शहनाई इसी को कहते हैं।" मौलबी शकूर ने कुढ़ कर कहा ।

"नहीं जनाब आप नाखुश न हों। मैं ऊपर से हँस जरूर रहा हूँ लेकिन भीतर-भीतर मेरा दिल भी आप ही लोगों की तरह रो रहा है। मेरे बुजुर्गवार भी बड़े नवाब के यहाँ अच्छे ओहदे पर थे। आज उन्हीं के खानदान वालों को सड़कों की सफ़ाई करनी होगी। क्या मुझे इसका सदमा नहीं है ?" फिस्सू मियाँ संजीदा होकर बोले ।

"तो भाई इससे बचने की कोई तरकीब क्यों नहीं सोचते ?" नवाब साहब ने कहा ।

"उसी पर सलाह करने के लिए तो यहाँ हाजिर हुआ हूँ" फिस्सू ने कहा, "एक राय से चार रायें अच्छी होती हैं।"

"मैं तो देहात में हट जाना ही बेहतर समझता हूँ" नवाब साहब बोले "वहाँ अपना पुराना इलाका है। अपने जान पहचान के कुछ न कुछ लोग होंगे ही। शायद जान बच जाय।"

"हुजूर का यह ख्याल दुरुस्त नहीं कहा जा सकता। फिस्सू मियाँ ने कहा, "शहर वाले शायद कुछ मुरौवत भी कर जावें लेकिन देहात वाले ऐसे मौके को कभी हाथ से न जाने देंगे। जब हुजूर मालिक रहने पर अपने इलाके में एक मुद्दत से तशरीफ नहीं ले गए तो आज एक मामूली आदमी की हैसियत से वहाँ जाने पर कौन बात पूछेगा ? आप खुद ही सोचें ?"

"तो क्या कोई जगह ऐसी नहीं मिल सकती जहाँ पन्दरा अगस्त को शरमदान न होता हो ?" नवाब साहब ने पूछा ।

"मेरे ख्याल से तो इस मुल्क में शायद ही कोई ऐसी जगह छोड़ी गई हो।" फिस्सू ने कहा।

"और अगर पन्दरा अगस्त को बराबर टरेन पर ही रहा जावे तो ?" नवाब साहब ने बेचैन होकर पूछा।

मौलवी साहब खुशी से उछल पड़े। बोले, "वल्लाह क्या तरकीब निकाली है आपने। मेरे तो दिमाग़ ही में यह बात नहीं आ रही थी। और इन फिस्सू को तो बस दिन भर भड़ैती ही चाहिए। इन्हें क्या सूझेगा ख़ाक। लेकिन देखो न, हुजूर ने कैसी काट निकाल ली। वे डाल-डाल चलेंगे तो हम पात पात" मौलवी साहब ने खुशी से फ़ूल कर कहा।

"तो दिन भर के सफ़र के माने यह हुए कि हम लोग पहुँच जावेंगे कलकत्ते ?" फिस्सू ने कहा।

"तो क्या हर्ज है ? कलकत्ता कौन विलायत में है ? कलकत्ते की सैर भी हो जावेगी और इस कमबख्त शरमदांन से भी नजात मिल जायेगी।" मौलवी साहब ने कहा।

"हाँ मेरे ख्याल से यही ठीक रहेगा" नवाब साहब ने ताईद करते हुए कहा।

"लेकिन हुजूर आप तनहा कलकत्ते तो जायेंगे नहीं ? दो चार मुलाजमीन का साथ रहना जरूरी है। फिर कलकत्ते पहुँच कर दूसरी गाड़ी से ही तो वापसी होगी नहीं। जब वहाँ पहुँच ही गए तो ४-६ रोज तो यूं ही चुटकी बजाते निकल जावेंगे। फिर वहाँ होटल का किराया, खाने पीने का खर्च, टैक्सी और ट्राम के भाड़े वगैरह में बहुत ही किफ़ायत बरती गई तो भी ४-५ सौ की चपत तो पड़ ही जावेगी। और ख़रीद फ़रोख्त में जो खर्च होगा वह अलग।" फिस्सू मियाँ ने अपनी दलील पेश करते हुए कहा।

"तो फिर आख़िर किया ही क्या जावे ?" नवाब साहब ने बेचैन होकर पूछा "दूसरा कोई रास्ता भी तो नज़र नहीं आता।"

"हुजूर मैं आपका पुराना नमकख्वार हूँ। मुझे आपसे ज्यादा इस खानदान की इज्जत का ख्याल है। आपका इसमें हजार डेढ़ हजार बैठ जावेगा और मैं सौ रुपये के भीतर ही ऐसा इन्तजाम कर दूँगा कि आपको उस दिन यहाँ से बाहर क़दम भी न रखना होगा। आप परेशान न हों।" फिस्सू मियाँ ने ढाढ़स बँधाते हुए कहा।

नवाब साहब मारे खुशी के फूले न समाये। उन्होंने फिस्सू मियाँ से कहा, "तो सब पक्का?"

फिस्सू मियाँ ने जवाब दिया, "सोलहो आने पक्का।"

नवाब साहब यह जानने के लिए बेचैन हो उठे कि आखिर सौ रुपये में फिस्सू मियाँ कैसे उनको शरमदान से छुटकारा दिला देंगे, जब कांग्रेस वालों ने यह शरमदान का स्वांग महज इसीलिए रचा है कि सब भले आदमियों की इज्जत आबरू मिट्टी में मिला दी जावे। नहीं तो जब सरकार मुल्क की सारी सड़कों को अपने खर्च से पक्की करने जा रही है तो लोगों से दस बीस टोकरी मिट्टी डलवा देने से उसमें क्या बचत हो जावेगी? उन लोगों की मंशा तो शरीफों और रजीलों को एक ही गाड़ी में जोतना भर है। चुनांचे उस दिन उन्होंने अपना दरबार वक्त से पहले ही खत्म कर दिया और उनके पास सिवा फिस्सू मियाँ और मौलवी शकूर के और कोई न रह गया।

फिस्सू मियां जितने ही चलते पुरजे और चार सौ बीसिया थे, मौलवी साहब उतने ही लुर थे। नवाब साहब से ज्यादा उन्हें अपनी बचत की पड़ी थी। सबके चले जाने के बाद नवाब साहब के पूछने पर फिस्सू मियां ने कहा, "हुजूर इस मोहल्ले के शरमदान पर इन काँग्रेसियों ने खास तौर पर सख्ती रक्खी है। क्योंकि उनकी मंशा तो शरीफों की तौहीन करना है। सुना है वे लोग इसका इन्तजाम कर रहे हैं कि जब नवाब लोग सर पर कूड़े की टोकरी रख कर चलें तो उसकी

सिनेमा की तस्वीरें खींची जावें। और उन्हें हर शहर व मुल्क के सिनेमा घरों में दिखाया जावे।"

"लाहौल बिलाकूवत ! यह सुलूक किया जावेगा हम लोगों के साथ ?" मौलवी साहब ने बिगड़ कर कहा। "न जाने इन मरदूदों का राज पाट कब तक ग़ारद होगा।

"राज जब ग़ारद होगा तब होगा।" फिस्सू ने कहा। "इस वक्त तो आप परसों की फिक्र कीजिए। परसों ही पन्दरा अगस्त है।"

"छोड़ो भाई इन सब बातों को। इस वक्त काम की बातें होनी चाहिए।" नवाब साहब ने कहा। "हाँ तो तुम कैसे इसका इन्तजाम करोगे फिस्सू ! यह तो तुमने बताया ही नहीं ?"

फिस्सू मियाँ ने अपनी कुर्सी पास घसीटते हुए कहा, "हुजूर चाँदी की जूती कहाँ नहीं चलती ? फिर इन टोपी वालों के राज में तो न लेने वालों में कुछ हया और शरम बाकी रह गई है और न देने वालों में। वैसे तो जैसा मैंने अर्ज किया, उस दिन ये लोग बहुत कड़ी निगाह रक्खेंगे लेकिन खाकसार ने भी धूप में बाल नहीं सफ़ेद किए हैं। इस मुहल्ले के शरमदान के जो इन्तजामकार मुकर्रर हुए हैं वे मेरे पड़ोस ही के रहनेवाले एक पंडत साहब हैं। पंडत साहब को अंडा खाने का बेहद शौक है लेकिन घर में इसकी घात नहीं लगती। मैं उन्हें कई बार अपने घर में अंडे खिला चुका हूँ। इसी से वे मुझे बहुत मानते हैं। कल जहाँ उन्हें काफी हाउस ले गया और सौ रुपये की नोट उनकी जेब में डाला नहीं कि बस काम फ़तेह समझिए। वे अपनी जगह किसी दूसरे से शरमदान करा लेंगे। और किसी को कानों कान खबर न होगी।"

"और मेरा क्या होगा ?" मौलवी शकूर ने बेताब होकर पूछा।

"आपको उस दिन सारे शहर में एक जुलूस के साथ घुमाकर चिड़ियाखाने में बन्द कर दिया जायगा।" फिस्सू ने हँस कर कहा। "इसके सिवा और हो ही क्या सकता है ?"

"चिड़ियाखाने में बंद हों आप और आपके घर वाले।" मौलवी साहब ने बिगड़ कर कहा। "यहाँ तो लोगों की इज्जत आबरू पर हमले हो रहे हैं और आपको इस वक्त भी मखौल ही सूझ रहा है।"

"नहीं भाई, मौलवी साहब के लिए भी कोई तरकीब निकालो।" नवाब साहब ने फिस्सू से कहा।

"मैं अपना इन्ज़ाम कर लूगा।" मौलवी साहब ने तुनक कर कहा।

"ये अपनी फ़िक्र करें। मेरे लिए इन्हें परेशान होने की जरूरत नही है।"

"नहीं नहीं फिस्सू मियाँ मज़ाक चाहे जितना करें लेकिन उनके दिल में आप के लिए किसी से कम जगह नहीं हैं।" नवाब साहब ने मौलवी साहब को समझाते हुए कहा।

फिस्सू मियाँ कहने लगे, "मुझे खुद मौलवी साहब के लिए बहुत फ़िक्र है, लेकिन फ़िलहाल इनके बचत की कोई सूरत दिखाई नहीं पड़ रही है। मैंने तो अपने लिए स्टेशन के एक कुली से तय कर रखा है कि वह आज ही से बीमार बन जावेगा और मैं परसों उसकी वर्दी और बिल्ला पहन कर सारे दिन स्टेशन पर बिता दूंगा। लेकिन मौलवी साहब के लिए तो यह भी मुमकिन नहीं है, क्योंकि खुदा न खास्ता अगर किसी मुसाफ़िर ने इन पर कस कर सामान लाद दिया तो इनका तो वही शरमदान हो जावेगा।"

"तो फिर क्या इनकी जान किसी तरह नहीं बचेगी?" नवाब साहब ने पूछा।

"मुझे तो इनके लिए आपकी टरेन वाली तरकीब ही सबसे ज्यादा मौजूँ लग रही है।" फिस्सू ने कहा।

"लेकिन ये टरेन पर बैठकर कलकत्ते तो जा नहीं सकते?" नवाब ने कहा।

"कलकत्ते जाने की क्या जरूरत है?" फिस्सू मियाँ बात काटते हुए

बोले "यह सबेरे की टरेन से अलाहाबाद चले जावें और शाम की टरेन से चल कर फिर रात को यहाँ वापस आ जावें और चुपके से किसी रिक्शे पर बैठ कर अपने घर जाकर आराम करें।"

"हाँ यह तो तुमने खूब सोचा" नवाब साहब ने खुश होकर कहा। "इसमें ८—१० रुपये का खर्च जरूर है। लेकिन इनकी इज्जत तो बच जावेगी।"

"लेकिन एक खतरा है इसमें। जिसको मैं पहले ही से अर्ज़ कर देना चाहता हूँ। उस पर अच्छी तरह ग़ौर कर के ही आगे क़दम बढ़ाना चाहिए।" फिस्सू ने कहा।

"वह क्या ?" नवाब साहब ने पूछा।

फिस्सू मियाँ बोले "इसमें इस बात का डर जरूर रहेगा कि अगर ये स्टेशन पर पकड़ गए तो इन पर दोहरा जुर्म लगेगा। एक तो शरमदान न करने का और दूसरे छिपकर भागने का। ऐसा न होता मैं तो हुजूर से भी परियाग जाने के लिए अर्ज़ न करता ?"

"स्टेशन पर इतने सबेरे भला इन्हें कौन पहचानेगा ?" नवाब साहब बोले।

"यह न कहिए हुजूर !" फिस्सू ने जोर देकर कहा "ये गाँधी टोपी वाले बड़े कौवा होते हैं।"

"तो फिर क्या तरकीब की जावे ? तुम्हीं बताओ।" नवाब साहब ने कहा।

"मेरी तो राय यह है कि मौलवी साहब बुरका ओढ़ कर टरेन के जनाने डिब्बे में बैठ जावें। जिससे अगर वे लोग स्टेशन जाकर डिब्बों में तलाशें भी तो इन पर किसी का शक न हो।" फिस्सू मियाँ ने कहा।

"क्या कहा ? मैं बुरका ओढ़ कर यहाँ से जाऊं ? यह हरगिज नहीं हो सकता।" मौलवी साहब ने कड़ाई से कहा।

"तो फिर कैसे जान बचाइएगा हजरत ?" फिस्सू मियाँ ने कहा।

"क्या कहा ? मे बुरका ओढ कर जाऊँ।"

"आप अपनी जिद पर ख्वामख्वा अडे है और वक्त की कोताही पर जरा भी गोर नही करते। परसो ही पन्द्रा तारीख है। इतने कम वक्त में और हो ही क्या सकता है ? फिर इस पर आपको कतई इतमीनान करना चाहिए कि सिवा हमारे और नवाब साहब के तीसरे को इसका पता भी न चलेगा और आपका काम भी बन जावेगा।"

"हाँ ठीक ही तो कह रहे हे फिस्सू" नवाब साहब ने मोलवी साहब से कहा। "अब ज्यादा सोचने विचारने का वक्त नही है। एक ही दिन की तो बात ही है। मुसीबत के वक्त इन्सान को क्या नही करना पडता ?"

"लेकिन ।" मौलवी साहब कुछ कहना चाहते थे कि नवाब साहब ने बात काट कर कहा, "लेकिन वेकिन कुछ नही। मै आपको दस रुपये टिकट और सफर खर्च के लिए फिस्सू के हाथ भिजवा दूंगा। ये आपको स्टेशन पर मिलेंगे और आपको रिक्शे से उतार कर डिब्बे में बैठा देंगे। रात को जब आप परियाग से वापस होंगे तो फिर ये आपको डिब्बे से उतार कर रिक्शे पर बैठाल देंगे। इनको भी तो उस दिन कुली बनकर सारे दिन स्टेशन पर रहना है।"

"हाँ बस अब ज्यादा सोचिए बिचारिये नहीं" फिस्सू ने कहा।

"यही गाड़ी अलाहाबाद पहुँचकर दो तीन घंटे बाद लखनऊ वापस आती है। मैं आपके लिए वापसी टिकट ले लूंगा। आप इतमीनान से किसी डिब्बे में बैठे रहिएगा और वहीं कुछ खा पी लीजिएगा। शाम को वहाँ से चल कर दस बजे गाड़ी यहाँ पहुँच जावेगी। मैं आपको स्टेशन पर ही मिलूँगा।"

"ख़ैर यही सही।" मौलवी साहब ने बहुत ही मजबूर होकर कहा। "जब आप लोगों की यही राय है तो यही करना ठीक होगा। हाँ भाई तो तुम ठीक वक्त पर स्टेशन पर मिल जाना।"

"जरूर। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा।" फिस्सू ने कुर्सी से उठते उठते कहा और वे दोनों साहब नवाब साहब से इजाजत लेकर अपने अपने घर चले गए।

नवाब साहब के यहाँ से लौटकर फिस्सू मियाँ अपने घर पहुँचे तो बीबी को देखते ही बोले। "बेगम! परसों तुम्हारे लिए वह बढ़िया साड़ी लाऊंगा कि तुम भी कहोगी कि हाँ।"

बीबी ने तुनककर कहा, "आ चुकी साड़ी। तीन महीने से तो यही रोना है कि कोई मामूली कपड़ा ही ला दो, जिससे इज्जत तो बचे। साड़ी तो उनकी बीबियाँ पहनती हैं जो दिन रात जी तोड़ कर कमाते हैं। तुम जैसे निठल्लू से साड़ी नहीं तो जोड़ा मिलेगा।"

"बेगम! बस कल का दिन बीच में और है। परसों सबेरा होने भर की देर है। बाजार खुलते ही तुम्हारी साड़ी न आ जाय तो मुँह पर थूक देना। एक ऐसा चंडूल फँसा है कि कल ही सौ रुपये की घोड़ी बनेगी।" फिस्सू मियाँ ने पास बैठते हुए कहा। और उसके बाद उन्होंने अपनी बीबी को अपनी सारी स्कीम बता दी।

बीबी ने सब सुनकर कहा, "लेकिन उस हाकिम को भी तो कुछ देना ही होगा।"

"कौन हाकिम ?" फिस्सू ने पूछा ।

"अरे वही जो शरमदान करावेगा । सौ न सही तो पचास से कम वह भी क्या लेगा ?" बेगम ने कहा ।

"कैसी बात करती हो तुम भी ?" फिस्सू ने कहा । क्या शरमदान में कोई जबरदस्ती हे ? जो न जाना चाहे वह अपनी जगह किसी मजदूर को भेज देगा या एक रुपये एक दिन की मजदूरी दे देगा । बस।"

"या अल्लाह ! ऐसा गज़ब न करना' बेगम घबरा कर बोली कहीं नवाब साहब को इसका पता चल गया तो हम लोग मुँह दिखाने के क़ाबिल न रह जावेंगे । "मैं बाज आई ऐसी साड़ी से ।"

"तुम तो बेगम बेकार में परेशान होने लगती हो" फ़िस्सू ने उन्हें समझाते हुए कहा । तुम बस चुपचाप बैठी देखती भर रहो । मैं सब ठीक कर लूँगा । नवाब के यहाँ एक मौलवी जरूर मुँह लगा है लेकिन परसों सबेरे ही उसको बुरका पहना कर परियाग रवाना कर दिया जायेगा । और दोपहर तक तुम्हारे लिए एक बढ़िया सी साड़ी आ जायेगी ।"

बीबी ने साड़ी का ध्यान करते हुए कहा, जैसी तुम्हारी मर्ज़ी लेकिन मेरा तो अभी से दिल बैठा जा रहा है "

× × ×

पन्द्रह अगस्त को सबेरे पाँच बजे एक रिक्शा स्टेशन पर आकर रुका । जिस पर बुरका ओढ़े हुए मौलवी साहब बैठे थे । फिस्सू ने उन्हें देखते ही सहारा देकर रिक्शे से उतारा और उन्हें उस प्लेटफार्म पर ले गए जहाँ इलाहाबाद पैसेंजर ट्रेन तैयार खड़ी थी । उन्होंने मौलवी साहब को एक जनाने डिब्बे में बैठाल कर एक टिकट पकड़ा दिया और डिब्बे से नीचे उतर आये । मौलवी साहब उन्हें कुली की पोशाक में न देखकर कुछ कहना चाहते थे लेकिन डिब्बे में दूसरी औरतों के सामने पहचाने जाने के डर से कुछ बोल न सके और चुपके से कोने में दुबक कर बैठ गए । थोड़ी देर बाद गाड़ी लखनऊ से इलाहाबाद के लिए रवाना हो गई ।

गाड़ी के छूट जाने पर फिस्सू मियाँ ने चाय की दूकान पर पहुँच कर खूब डटकर नाश्ता किया और फिर एक रिक्शा करके अपने मुहल्ले की सबसे बड़ी मिठाई की दूकान पर पहुँचे। हलवाई के सामने एक दस रुपये का नोट फेंक कर उन्होंने उसकी मिठाई बँधवा रखने का हुक्म दिया और फिर वहाँ से वे सीधे अपने घर आये। घर पहुँच कर फिस्सू ने एक ऊँची गाँधी टोपी पहनी और एक बड़ा सा तिरंगा झंडा जिसे वे कल ही ख़रीद लाये थे, एक बाँस में लगाने लगे। स्टेशन पर का सारा दास्तान सुनने के लिये बीबी साहबा नाश्ता लेकर पहुँच गई। मौलवी साहब का हाल सुनकर उनका मारे हँसी के बुरा हाल हो गया।

"मैं उसे इतना बेवकूफ़ नहीं समझती थी।" उन्होंने हँसी रोकते हुए कहा।

"बेवकूफ़ वह ज़रा भी नहीं है।" फिस्सू मियाँ वोले। "तमाम लोगों को दिन भर न जाने क्या आम-घास देकर जो दूसरों को बेवकूफ़ बनाता रहता है, उसको बेवकूफ़ कौन कह सकता है? यह तो मेरा ही दिमाग था बेगम! कि मैंने उसके चूना लगा दिया।"

"तो अब क्या होगा उसका?" बेगम ने पूछा।

"अल्लाह मालिक है।" फिस्सू ने नाश्ता करते हुए कहा।

"इलाहाबाद पहुँच कर यहाँ का टिकट खरीदने में बेचारे को बहुत दिक्कत होगी? या तुमने उसे वापसी टिकट खरीद दिया है?' बेगम ने पूछा।

"इलाहाबाद पहुँचने की तो शायद उसे नौबत ही न आवे।" फिस्सू ने कहा।

"क्यों?" बेगम ने पूछा।

"मैंने जो टिकट उसे इलाहाबाद का वापसी टिकट कहकर दिया है, वह दरअसल प्लेटफार्म का टिकट था।" फिस्सू ने हँसते हुए कहा।

"या अल्लाह! कहीं ऐसा गहरा मजाक किया जाता है?" बेगम ने

घबरा कर कहा—"बेचारा कहीं रास्ते में पकड़ गया और पहचान लिया गया तो बड़ा गज़ब होगा।" बेगम ने कहा।

"हाँ एक तो बिला टिकट चलने के लिए और दूसरे ज़नाने डिब्बे में औरत बनकर सफ़र करने से कुछ दिनों की जेल की हवा भी खा सकते हैं।" फिस्सू ने कहा।

"मेरे तो सोच कर ही रोयें खड़े हो जाते हैं?" बेगम बोली।

"और हाँ उसके लिए तो नवाब साहब ने तुम्हें अलग से रुपये दिये थे। आखिर उनका क्या हुआ? नवाब पूछेंगे तो उनको क्या जवाब दोगे?"

"उन रुपयों की मिठाइयां तैयार हो रही हैं, जिनको खाकर हमारे मुहल्ले के बच्चे साल भर हमें और नवाब साहब को याद रक्खेंगे। तुम किसी बात की फिक्र न करो। नवाब साहब इतने अक्लमंद होते तो अपनी जान बचाने के लिए एक रुपये की जगह एक सौ रुपये न देते। पहले तो इसकी नौबत ही न आवेगी। और अगर कभी आई भी तो मैं कह दूंगा कि जल्दी में मौलवी साहब का वापसी टिकट मेरे पास रह गया और मेरा प्लेटफ़ार्म का टिकट मौलवी साहब के साथ चला गया।" फिस्सू ने बड़े इतमीनान से कहा।

झंडा तैयार हो जाने पर फिस्सू मियाँ उसको लेकर घर से बाहर निकले और महात्मा गांधी की जय! जवाहर लाल नेहरू की जय! स्वतन्त्र भारत की जय! के नारे लगाते हुए वे हलवाई की दूकान पर पहुँचे। थोड़ी सी मिठाई बच्चों को बाँटकर उन्होंने सारे मुहल्लले के लड़कों को इकट्ठा कर लिया और उनके साथ एक मजदूर के सर पर मिठाई की टोकरी लदवाये हुये हुए वे उस जगह गए जहाँ झंडा-प्रार्थना के बाद श्रम-दान होने वाला था।

मोहल्ला काँग्रेस कमेटी के प्रधान के सामने मिठाई की टोकरी रखवा कर उन्होंने उनसे कहा, "नवाब साहब ने बच्चों के लिए यह थोड़ी सी

मिठाई भेजी है और अपनी जगह शरमदान के लिए इस मजदूर को भेजा है। खुद हाजिर होकर शरमदान को कामयाब बनाते, क्योंकि यह तो मुल्क की खिदमत है लेकिन कल से उनकी तबीयत नासाज है। इसके लिए ये बहुत शर्मिन्दा हैं। और यह गुलाम भी उसी शरमदान के लिए यहाँ हाजिर हुआ है।

प्रधान जी फिस्सू मियाँ की बातों से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने फिस्सू मियाँ से कहा—"आप इसी वक्त जाकर नवाब साहब को मेरा शुक्रिया अदा कर दें। उन्होंने हम लोगों का जो हौसला बढ़ाया है, उससे हम लोगों को बड़ी ताकत मिली है।"

फिस्सू मियाँ ने अपने हाथ का झंडा पास के दूसरे आदमी को दे दिया और एक फावड़ा हाथ में लेकर बोले, "मुझे मेरे हिस्से का काम बता दिया जाय तो मैं उसे पूरा कर डालूँ क्योंकि मुझे इन बच्चों को लेकर नवाब साहब के यहाँ जाना है। वे इन्हें अपने हाथ से मिठाई बाँटना चाहते हैं।"

प्रधान जी ने उनके हाथ से फावड़ा छीनकर उन्हें झंडा देते हुए कहा—"आप नाहक तकलीफ़ न करें। आपने तो श्रमदान का ऐसा नमूना पेश किया है कि अगर हम में से थोड़े लोग भी आप ही की तरह मुल्क की खिदमत करने लगे तो हमारा देश सब देशों से आगे बढ़ जाये।"

× × ×

नवाब साहब ने जब यह समाचार सुना तो उन्होंने फिस्सू मियाँ को गले से लगा लिया और उनसे मुहब्बत से भरे हुए लफ़्जों में कहा, "फिस्सू तुमने मेरे और मेरे खानदान की इज्जत बचा ली। तुम्हारा एहसान मैं जिन्दगी भर नहीं भूलूँगा।"

लोग फ़ारस से बुलबुल मगाते है लेकिन मेरे दादा जी को न जाने क्या सूझी कि उन्होने ईरान से एक आग़ा साहब को बुलाया, फारसी पढ़ाने के लिए। खैर आगा साहब आए और हमारे गाँव में रहने लगे।

दादा जी की मृत्यु के दूसरे ही साल हमारे पिताजी का स्वर्गवास हो गया। लेकिन आग़ा साहब ने स्वर्ग जाने को कौन कहे इस मृत्यु लोक में ही दूसरी जगह जाने का नाम न लिया। वे यहीं बस गये।

उनके तीन लड़के थे। तीनों नम्बरी शरारती। सबसे बड़े साहब का पुकारने का नाम था आग़ाजानी। आग़ाजानी उम्र में हम लोगों से १५-२० बरस आगे थे, लेकिन जब कोई शरारत का मौक़ा आता तो वे हम लोगों के हमजोली बन जाते। गांव में कोई शरारत सोची जाने लगी कि आगा जानी उसके अगुवा बनने को तैयार हैं। कहीं स्कूल के किसी मास्टर को तंग करना हुआ, या कहीं आम अमरूद चुराना हुआ, या कहीं चौथ का चाँद देखकर गाली सुनने के लिए किसी के घर पर ढेलेबाजी करनी हुई, तो आग़ाजानी को ढूँढ़ना पड़ता। वे खुद ही इन सब में शामिल होने के लिए पहुँच जाते थे।

लेकिन महीने दो महीने में ऐसा जरूर होता था कि आग़ाजानी दो चार दिन के लिए किसी काम के न रह जाते थे। बात यह थी कि उन्हें शराब पीने की ऐसी लत पड़ गई थी कि हाथ में रुपये दो रुपये

आये नहीं कि वे गाँव की मधुशाला में घुस जाते और जब वहाँ से निकलते तो फिर देखते ही बनता था। एक हाथ में ईंट लिए हुए हैं तो दूसरे में खाकी बोतल है। एक पैर में जूता है तो दूसरा खाली ही है। कभी गाली बक रहे हैं तो कभी उमर ख़ैयाम की रुबाइयाँ पढ़ रहे हैं। गाँव भर के नटखट लड़के इसी दिन की बाट जोहते रहते थे। इन्हें इस हालत में देखकर इनके पीछे भीड़ लग जाती। थोड़ी देर में कमीज तो नोच-नाच कर अलग कर दी जाती और पैंजामा भी घुटनों तक फट-कर नेकर हो जाता। कभी मुंह काला कर दिया जाता तो कभी गले में जूतों का हार पहना दिया जाता। कमर में रस्सी बाँध दी जाती और कनस्टर बजाते हुए उनका जुलूस गाँव भर में निकलता। दो तीन दिन यही शग़ल रहता। उसके बाद आग़ा साहब इन्हें पकड़वाकर रस्सियों से एक खंभे में बँधवा देते। फिर तीन चार सईस हौज से बालटियाँ भर भर कर इनके सर पर तब तक डालते जब तक इनका नशा उतर न जाता।

एक बार एक मकान की चहार दीवारी के लिए नींव खोदी गई। गंगा का किनारा होने के कारण नींव १०-११ फुट गहरी की गई थी। रात को इसमें अक्सर साही और गीदड़ वग़ैरह गिर पड़ते थे। हम लोग रोज सवेरा होते ही पहले उसी जगह पहुँचते थे और यदि इसमें कोई जानवर गिरा मिल जाता था तो फिर क्या कहना? एक हलचल सी मच जाती थी। गाँव भर के सब लड़के जमा होकर ऊपर से ढेले फेंक-फेंक कर उस जानवर की कपाल क्रिया कर डालते थे।

इत्तफ़ाक की बात, एक दिन सुबह जब हम लोग नींव के पास पहुँचे तो देखते क्या हैं कि गीदड़ की जगह श्रीमान् आग़ाजानी जी उस गढ़े में रौनक़ अफ़रोज़ हैं। आप ऊपर चढ़ने के लिए बार-बार दीवाल खरबोटते थे, लेकिन बीच ही से खरखरा कर नीचे गिर पड़ते थे। अभी शराब के घोड़े से नीचे नहीं उतरे थे, इससे सिवा गालियों के दूसरी बात

ज़बान से नहीं निकलती थी। हम लोगों ने पहले ऊपर से धूल फेंकी फिर पानी गिराया। लेकिन इन सब का उन पर कुछ भी असर न हुआ। हाँ उनकी गालियों की रफ्तार ज़रूर तेज़ हो गई। आप भी नीचे से कंकड़ फेंकने लगे। धीरे-धीरे ऊपर ख़ासी भीड़ जमा हो गई। आगा साहब भी आये। उन्होंने मोची के यहाँ से चमड़े के लंबे तसमें कटवा कर मँगाए और हम लोगों को दे दिए। उन तसमों से वह मार पड़ी आग़ाजानी पर कि १०-१५ मिनट में ही उनका नशा हिरन हो गया।

इस घटना के बाद कुछ दिनों तक वे हम लोगों से कटे कटे रहे लेकिन जहाँ शरारत का मौक़ा आया कि हम सब फिर एक हो गये।

आग़ा साहब के बुड्ढे बाप को हम लोग बहुत परेशान करते थे। वे सुबह शाम अपने पाँई बाग में आकर बैठते तो हम लोग उन्हें देखते ही "आग़ा खुदाय बूदी, आगा के छप्पर पर भैंस कूदी" कह कर बहुत चिढ़ाते। जब वे बिगड़ कर गाली देते "हाया न शरम नेहाया कुर्रीख़र" और उठ कर चलने लगते तो हम लोग "आग़ा मुर्गी लेकर भागा" का कोरस पढ़ते, आग़ाजानी भी इसमें हम लोगों के साथ शामिल रहते लेकिन वे एक ऊँचे अमरूद के पेड़ पर चढ़ कर छिपे रहते थे कि कहीं उनके दादा की निगाह न पड़ जावे। एक दिन बुढ़ऊ आग़ा बहुत चिढ़े और डंडा लेकर हम लोगों की ओर झपटे। हम लोग तो दीवाल फांद कर भाग गए लेकिन आग़ाजानी पर उनकी निगाह पड़ ही तो गई। फिर वह मार पड़ी है उन पर कि ख़ुदा की पनाह। हम लोगों को दूर से दोनों की फ़ारसी में चिल्लाहट और डंडे की खटखटाहट के सिवा और कुछ सुनाई नहीं देता था।

आग़ाजानी को शक हो गया कि मैंने आगा साहब को उनके छिपने का स्थान बता दिया था। इसलिए वे बदला लेने का मौक़ा तलाशते रहे और उन्हें बहुत जल्द ही मौक़ा मिल भी गया।

जाड़ों के दिन थे। यही दिन अमरूद चुराने के लिए बहुत ठीक

होते हैं। बड़े-बड़े चित्तीदार अमरूद शाम ही से हम लोगों की बाट जोहते रहते। फिर भला उन्हें कैसे निराश किया जाता। अँधेरा होते ही हम लोग गोल बाँध कर अमरूद के बागों पर छापा मारते। बाग भर में कुहराम मच जाता खटिक लोग लाठी ले लेकर झपटते और हम लोग उनके आने से पहले ही अमरूद तोड़ कर हुर्र हो जाते।

एक दिन शाम ही से तैयारी होने लगी थी। दिन रहते ही भागने के सब रास्ते देख लिये गये थे। शाम हो गई थी, लेकिन बाग़ जानी का कहीं पता न था। लाचार हम लोग देर होती देख बाग़ की तरफ़ रवाना हुए। बाग गाँव से मिला ही हुआ था। साँस रोके हुए हम लोग बाग़ में घुसे ही थे कि रखवाली करने वाले खटिकों ने ललकारा। जल्दी-जल्दी कच्चे-पक्के जैसे भी अमरूद मिले तोड़ कर हम लोग भागे। सामने का रास्ता झाँखर से रुँधा देखकर मैं जैसे ही लौटा कि पीछे आने वाले लड़के से बड़े ज़ोर की टक्कर हो गई। हम दोनों साथ ही जमीन पर गुड़ी मुड़ी हो गए। जल्दी में उठ भी न पाये थे कि एक खटिक ने हमको पकड़ ही तो लिया। हमको छुड़ाने की कोशिश करते देख उसने पहले दोनों को एक एक चपत रसीद किया फिर दोनों के कान पकड़ कर उसने एक दूसरे की खोपड़ियाँ लड़ाईं। उसके बाद गुस्सा कम करने के लिए गोलियों की बौछार शुरू हुई। "ये छटंकी भर के लड़के और हलाकान किए हैं। दिन भर नीलगाय और रात भर गेदुर उड़ाओ। उनसे कुछ बच पावै तो इन गदेलों के मारे काहे को एकौ अमरूद बची। पेंहटा अस अहैं मुदा अबै से चोरी में सबसे दुइ बित्ता आगे अहै। चलो आज ठाकुर साहब की ड्योढ़ी पै बिना लै गये न मानब। इनके बाप महतारी कोट में बुलायके जब ताँई न डाँटा जैहैं तब ताँई इनकै चोरी कै बान न छूटी।" इतना कह कर उसने हम दोनों के कान फिर एक बार जोर से ऐंठ दिए।...

"ईं ईं, ईं," हम दोनों ने कराह कर कहा।

"चाहे चीं करौ चाहे पीं। हम आज कान खटाई किए बिना न मानब" कह कर उसने सितार की खूँटी की तरह हम लोगों के कान दस बार और जोर से ऐंठ दिए।

"मैं कैसे बताता कि मैं उन्हीं ठाकुर साहब का लड़का हूँ जिनकी ड्योढ़ी पर ले जाने की धमकी दी जा रही है। और यह बाग मेरा ही है। मुझे यहाँ डर लग रहा था कि जब यह कान पकड़ कर मेरे मकान पर नालिस करने को जावेगा और ड्योढ़ी पर पहुँचते ही जब मुझे पहचान कर माफ़ी माँगने लगेगा तो कैसी भद्द होगी। यही सोचकर मेरे रोएं खड़े हो गये। इससे तो कहीं अच्छा यही है कि यह मुझे जितना चाहे यहीं मार ले लेकिन किसी तरह मुझे पहचाने न। मेरा साथी कुछ कहने ही वाला था कि मैंने उसका हाथ दबाकर उसे ऐसा करने से रोक दिया। ख़ैर भगवान ने हम लोगों की पुकार सुनी और उन्होंने खटिक की माँ को वहाँ भेज दिया। उसने अपने लड़के को समझाते हुए कहा, "ह्वै गवा बच्चा, अब जाय देव। बाँदर और गदेल के सुभाव एकै रहत है। अब बहुत सजा मिलगै। अब छोड़ देव इनका।"

खटिक ने एक बार फिर हम दोनों के कान ऐंठ कर दोनों की खोपड़ी लड़ाई और इसके बाद हम दोनों को छोड़ दिया। हम लोग छूटते ही वहाँ से भागे। बाग के बाहर आने पर क्या देखते हैं कि आग़ाजानी साहब बड़े इतमिनान से खड़े खिलखिला रहे हैं। हम दोनों को देखकर उन्होंने पूछा, "कहिए जनाब! अमरूद कैसे थे?"

मैं मारे गुस्से के जल भुन कर रह गया। बाद में पता चला कि आग़ाजानी ने उस दिन का बदला लेने के लिए शाम को ही बाग वालों को इत्तिला कर दी थी कि आज बाग पर कुछ शरारती लड़कों का हमला होगा।

जिस तरह लाल कपड़े से बैल भड़कता है, उसी तरह "वरदू" शब्द सुनते ही मेरे रोएं खड़े हो जाते हैं। आप जानते हैं क्यों ? अच्छा सुनिए, लेकिन पहले यह वायदा कर लीजिए कि मेरे सामने इस खतरनाक शब्द को कभी न इस्तेमाल कीजिएगा।

मेरे गाँव में एक मिलबनियाँ पंडित जी हैं, पंडित हरदत्त शर्मा। जिन्हें न जाने कैसे यह विश्वास हो गया है कि उरदू का एक शुद्ध फ़ारसी रूप 'वरदू' है। वे उरदू को वरदू ही कहते हैं और वह भी इतने बेलौस कि थोड़ी उरदू जानने वाले इस धोखे में पड़ जाते हैं कि दरअसल वरदू ही सही है। मैं भी पंडित जी के 'वरदू' का शिकार हो गया था। जिसकी बड़ी दिलचस्प कहानी है।

तीस साल का अरसा हुआ मैं स्कूल में पढ़ता था। किस स्कूल में ? यह बताना तो बहुत कठिन है क्योंकि एक स्कूल तो था नहीं। बिल्ली जिस तरह आँख खुलने से पहले अपने बच्चों को कई स्थानों में घुमाती है। उसी तरह मैं भी तरह-तरह के स्कूलों में घुमाया जा रहा था। कभी गाँव के स्कूल में हूँ, तो कभी बनारस में हूँ। वहाँ न ठीक पढ़ा तो प्रयाग भेजने में कौन दिक्कत थी। अन्त में यह तय हुआ कि मैं लखनऊ के कालविन स्कूल में भेजा जाऊँ। और एक दिन वह भी आया कि मैं सचमुच लखनऊ भेज दिया गया।

स्कूल चाहे जैसा भी हो। नये लड़कों के लिए वह हौआ ही रहता है। नया लड़का एक ओर तो टीचरों के टेस्ट के इम्तहान से परेशान रहता है, दूसरी ओर शरारती लड़कों का गिरोह उसे छेड़ने में कोई भी कोर कसर नहीं उठा रखता। मेरा भी वही हाल हुआ।

जैसे तैसे करके सब टीचरों के दरजे में इम्तहान देकर मैं आखीर में जिस क्लास में पहुँचाया गया, वह मौलवी साहब का था।

मौलवी साहब सेकेन्ड फ़ार्म पढ़ा रहे थे। मुझे देखते ही ऐनक के ऊपर से घूर कर बोले, "आप की तारीफ़ ?"

मैंने उन्हें प्रिन्सिपल का परचा देकर बताया कि मैं इस स्कूल में दाखिल होने आया हूँ। और उनके पास आने का मतलब महज सेकेन्ड फ़ार्म में टेस्ट इम्तहान देना है।

मौलवी साहब बहुत दिलचस्प आदमी थे। उनके दरजे का कहकहा और शोर देर तक सुनाई पड़ता था। जिसमें मौलवी साहब की आवाज सबसे तेज रहती थी। मेरा दिया हुआ परचा पढ़कर आपने पूछा, "इससे पहले आप कहाँ पढ़ते थे ?" मैंने बताया कि मैं पहले बनारस में पढ़ता था और फिर इलाहाबाद में।

मौलवी साहब बहुत जोर से हँसे। बोले, "अखवाह आप काशी जी और परियागजी के तालिबइल्म हैं। फिर क्या है साहब! आपका क्या इम्तहान लूँ ? आप तो वहाँ से आ रहे हैं जहाँ इल्म बाजारों में बिकती है। लेकिन कुछ तो पूछ लेना जरूरी हो गया है। अफ़सर का हुक्म जो ठहरा।"

एक लंबी जमुहाई लेकर मौलवी साहब ने पूछा, "आप उरदू तो जानते ही होंगे ?"

"जी हाँ, थोड़ी बहुत तो जरूर जानता हूँ" मैंने धीरे से कहा।

"बस ठीक है, थोड़ी सी तो यहाँ सभी जानते हैं। इन अजुधिया परसाद को जिन्हें आप सामने बैठा देख रहे हैं, आज तक यही नहीं

समझ में आया कि बे, पे, ते, से, में फ़र्क़ क्या है। लेकिन आप बदस्तूर दरजे में मौजूद हैं। और सबसे आगे वाली सीट पर हमेशा बैठते है।"

मैंने सोचा छुट्टी मिली लेकिन मौलवी साहब ने एकाएक पूछा, "कौन-सी किताब पढ़ते थे आप?"

मैं अजीब शसपन्ज में पड़ गया क्योंकि असलियत तो यह थी कि मैं उरदू बहुत ही थोड़ी जानता था। अलिफ़, बे आदि अक्षरों को पहचानने के बाद मैंने दूसरी किताब के पाँच सात बयान जबानी रट लिए थे। और यह सोच रखा था कि जरूरत पड़ने पर उन्हीं को सर्राटे से पढ़ दूँगा, लेकिन वहां मौलवी साहब की बातों से मैं न जाने क्यों यह समझ बैठा कि मेरा इम्तहान हो चुका है अब वे किताब क्या पढ़ावेंगे। इसी से मैंने अपनी क़ाबलियत दिखाने की गर्ज़ से कह दिया, "चौथी।"

"चौथी?" मौलवी साहब ने बड़े ताज्जुब से मेरी ओर देखकर कहा, "चौथी किताब तक तो यहाँ अभी कोई नहीं पहुँच सका। नरेनदर ही इस दरजे में सबसे तेज हैं वे भी तीसरी किताब पढ़ रहे हैं। लीजिए यह चौथी किताब है। इसमें से कोई-सा बयान पढ़ दीजिए।"
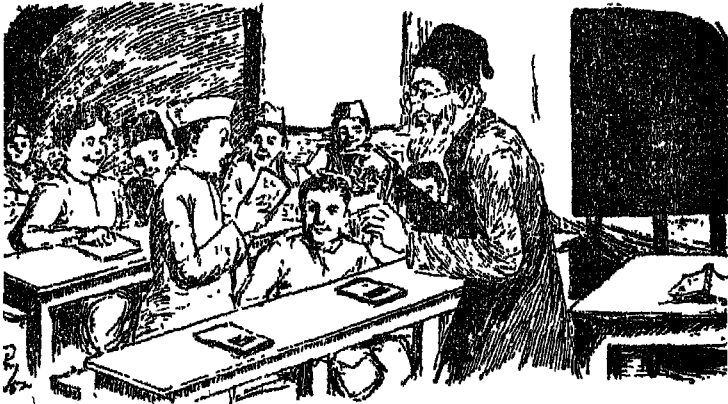
"आप ही मन-ही-मन सब पढ़े जा रहे हैं।"

मैंने सोचा कि अब तो बुरे फँसे । एक ही किताब का फ़र्क होता तो किसी तरह बात भी सँभल जाती, लेकिन यहाँ तो मैं एकदम चार की छलांग मार गया था । मैंने मन मार कर चुपचाप किताब ले ली और इधर उधर उसके पन्ने उलटने लगा ।

मौलवी साहब देर होती देखकर बोले, "जरा जोर से पढ़िए तो हम लोग भी सुनें । आप तो मन ही मन सब पढ़े जा रहे है ।"

मैंने शरमाते हुए कहा, "जी ! यह तो नहीं पढ़ पा रहा हूँ । इसके नीचे वाली किताब……। "

"उसी में, उसी में, पीछे की ओर उलटिए तीसरी किताब भी उसी, में है ।" मौलवी साहब ने बात काटते हुए कहा ।

मैं थोड़ी देर तीसरी किताब को उलटता रहा । इतने में मौलवी साहब ने दूसरी किताब को उठा कर मेरे सामने बढ़ाते हुए कहा, "उसके नीचे फिर यह है । दूसरी किताब ।"

मैं यही तो चाहता ही था । सोचा अभी एक क्या दो बयान सुना दूंगा । एक से सात बयान तो जबानी याद ही हैं, लेकिन बदकिस्मती कभी अकेले नहीं आती । मौलवी साहब को न जाने क्या सूझा कि इन्होंने किताब को बीच से खोल कर मेरे सामने रख दिया । मैंने जो किताब पर नजर डाली तो देखता क्या हूँ कि कुम्हार और ऊँट वाला बयान सामने खुला है, जो सातवें बयान से आगे का बयान है । इस बयान का किस्सा जरूर मालूम था । लेकिन किस्सा जानना दूसरी बात है और किस्से को लफ्ज ब लफ्ज दुहराना दूसरी बात । बड़ी मुश्किल में जान फँसी । किसी न किसी तरह कोशिश करके दो चार शब्द पढ़े भी, लेकिन उसके आगे गाड़ी रुक गई । मौलवी साहब बेचारे कहाँ तक सब्र करते जब उनसे न रहा गया तो बोले, "अब तो जनाब इसके नीचे कोई किताब अभी तक तो छपी नहीं, वरना उसे भी पेश करता । यह तो खैरियत हुई कि आपने चौथी किताब से ही शुरू किया । कहीं और आगे से शुरू करते तो

घन्टा ही खत्म हो जाता। आप तो इतनी जल्द जल्द एक के बाद दूसरी किताब खत्म करने लगे कि साहब मैं तो हैरत में आ गया। कसर बस इतनी रह गई कि बजाय नीचे से ऊपर चढ़ने के आप ऊपर से नीचे उतरते चले आये।"

मैं मारे शरम के जमीन में गड़ा जा रहा था। कहता तो क्या कहता। धीरे से बोला, जी, 'वरदू' पढ़ता तो था लेकिन........।"

मेरी बात खत्म होने तक कौन रुकता है। मेरी जबान से 'वरदू' शब्द का निकलना था कि मौलवी साहब ले उड़े। बोले, "आख्वाह ! वरदू पढ़ी है आपने ! यह पहले से क्यों नहीं बताया ? मैं नाहक उरदू की किताबों से आपको अभी तक परेशान कर रहा था। वरदू की किताबें तो जनाब ! यहाँ कहीं मिलेंगी नहीं। वे तो सिर्फ काशी और परियाग जी में ही चलती हैं।"

दरजे में इस जोर का कहकहा लगा कि मैं घबड़ा गया। "वरदू पढ़ते हैं आप"—"वरदू मुझे भी सिखा दीजिए"—"हाँ जरा वरदू बोल कर सुनाइए तो" इस तरह की न जाने कितनी फब्तियाँ मेरे ऊपर कसी गईं। मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। जरा सी गलती से क्या से क्या हो गया। कहाँ सोचा था कि 'वरदू' जैसे ही मेरी जबान से निकलेगा मेरा उखड़ा हुआ रोब फिर कायम हो जायगा और मौलवी साहब भी समझ जावेंगे कि लड़का है, बहुत होशियार। लेकिन यहाँ तो पहले से कहीं ज्यादा मुसीबत फट पड़ी।

मुझे यह समझने में देर न लगी कि 'वरदू' उरदू का शुद्ध नहीं बल्कि बहुत ही अशुद्ध रूप है। जिस बात को पंडित जी के साथ बरसों रह कर भी नहीं जान सका उसे मौलवी साहब के दरजे में चन्द ही मिनटों में समझ गया। लेकिन अब समझने से क्या होता है ? दरजे भर में जिसके मुँह से सुनिए बस वरदू के लिए ही फर्माइश हो रही थी। मौलवी साहब अपनी अलग ही छेड़े हुए थे। "अरे साहब ! वरदू की

न पूछिए। बड़ी शीरी जबान होती हैं। मेरे एक ख़ालूजात भाई परियाग में रहते हैं। वह अक्सर कहते हैं कि परियाग के अमरूदों की तो बस तारीफ़ ही तारीफ़ है, वहाँ के अमरूदों से कहीं ज्यादा मिठास तो वहां की 'वरदू' में है।"

मेरी क्या हालत थी। इसका अन्दाज़ा अब आप ही लोग कर सकते है। रह रह कर गाँव के उन्हीं पंडित जी की शकल सामने आती थी और उन पर इतना ग़ुस्सा लग रहा था कि क्या बताऊँ। उसी समय घंटा खतम हुआ। मैंने सोचा अच्छा हुआ जान तो बची। लेकिन इतनी जल्द भला कैसे छुट्टी मिल सकती थी। पंडित जी की वरदू जल्द पीछा छोड़ने वाली नहीं थी। क्लास के बाहर निकलते ही सारे स्कूल में यह बात फैल गई और जिसके मुँह से सुनिए बस वह 'वरदू' की ही चर्चा कर रहा है।

"क्यों साहब, आप कहाँ तक वरदू पढ़े हैं?"—"क्या आपकी मादरी ज़बान वरदू है?"— "अरे भाई बोलते क्यों नहीं? मगर आप हम लोगों की बात भला कैसे समझेंगे? वरदू जो पढ़े हैं।" इसी तरह की सैकड़ों फ़ब्तियाँ बोर्डिङ्ग हाउस तक कसी गई। मैं रोआँसा-सा होकर अपने कमरे में घुस गया। झेंप मिटाने में आज तक कोई भी कामयाब नहीं हुआ है, फिर यहाँ तो उसकी कोई गुन्जाइश भी नहीं थी।

करीब एक महीने तक लड़कों ने मुझे "वरदू" कह कर परेशान किया। 'वरदू' शब्द कह देना भर काफ़ी था। लेकिन कुछ दिनों बाद जब मैं भी शरारती लड़कों के गिरोह में शामिल हो गया तब कहीं जाकर मेरी जान बची और चिढ़ाने का सिलसिला टूटा। लेकिन इस शब्द को मेरे मित्र लोग अन्त तक भुला न सके और जब आपस में कभी किसी बात पर बहस होती या किसी बात पर मेरा मतभेद होता तो दोस्त लोग मीठी चुटकी लेते हुए कहते, "अरे भाई यह भला हम लोगों की बात कैसे मान सकते हैं? 'वरदू' जो पढ़े हैं।"

गरमी की छुट्टियों में जब मैं घर आया तो पंडित जी को देखते ही बदन में आग सी लग गई। सोचा यह तो यहाँ चन्दन मन्दन लगाए घूम रहे हैं। इनको कभी स्कूल तो जाना नहीं है चाहे 'वरदू' बोलें चाहे फ़ारसी लेकिन मुझे तो इन्होंने ऐसा फँसा दिया है कि जल्द छुटकारा मिलना मुश्किल है। इनको भी किसी तरह ले जाकर उन्हीं मौलवी साहब के दरजे में छोड़ दिया जावे तो ये उरदू फ़ारसी भूल जावें।

लेकिन पंडित जी को इससे क्या। वे मेरे गुस्से से अपनी भाषा थोड़े ही बदल देते। आज थोड़ी उरदू पढ़ लेने पर भी वे जिस सफ़ाई से 'वरदू' कहते हैं उसे देखते हुए यह उम्मीद करना तो एकदम फ़िजूल ही है कि वे कभी वरदू के स्थान पर उरदू भी बोल सकेंगे।

आज भी उनके मुँह से वरदू सुनकर मेरे रोएँ खड़े हो जाते हैं, जैसे पैर तले साँप पड़ गया हो लेकिन मेरी दशा पर परमात्मा ही तरस खाएँ तो खाएँ पंडित जी भला क्या तरस खाएँगे।

कैन माने सकना

कुछ दिन पहले अंग्रेजी की जो किताब पढ़ाई जाती थी उसका नाम था "किंग-रीडर"। बहुत सुन्दर सी किताब थी। तस्वीरों से भरी हुई। लेकिन उनमें कुछ चीजें ऐसी थीं, जो आसानी से बच्चों की समझ में नहीं आती थीं। फिर देहात में रहने वाले बच्चे तो उन शब्दो से और भी चक्कर में पड़ जाते थे।

मुझे भी पहले पहल यही किताब पढ़ने को मिली। और पढ़ाने वाले मिले, एक पुराने पेन्शन याफ्ता कायस्थ मास्टर साहब। जो हमेशा शहरों में ही भटकते रहे थे।

मास्टर साहब को अपनी अक्ल से ज्यादा अपनी तरकीबों पर भरोसा था। और वह तरकीब भी घुमा फिरा कर समझाने वाली नहीं, बल्कि सीधे-सीधे डंडे की मदद से विद्या को बच्चों के दिमाग में ठूँस देने वाली। इसीलिए कितने ही लड़कों की पीठ तोड़कर भी आज उनका डंडा आराम

करने पर तैयार नहीं था। और मैं न जाने कहाँ से एक नया शिकार फँस कर उनसे अँग्रेजी सीखने के लिए मजबूर कर दिया गया था।

मास्टर साहब में थोड़ी सी भी मिठास होती और समझा बुझा कर पढ़ाने का जरा भी ढग आता होता तो भी किसी तरह काम चल जाता। लेकिन वे इतने रूखे और सख्त आदमी थे कि उनकी शक्ल देख कर सरस्वती देवी आने को तैयार हो कर भी नही आती थीं। मैं तो उन्हें देखते ही सब कुछ भूल जाता था। ऐसा लगता था कि साक्षात काली माई के भाई सामने खड़े है। लेकिन उन्हें अपने डंडे पर इतना ज्यादा भरोसा था कि वे उसी से मुझे भी हाँकने को तैयार हो गए थे।

खैर जैसे ही मेरी अँग्रेजी की पढ़ाई शुरू हुई मास्टर साहब की धमकी घुड़की चलने लगी। मैं उनकी आदत अच्छी तरह जानता था। इससे उनसे पहले ही से चौकन्ना था। लेकिन इससे उनको न जाने कैसे यह शक हो गया कि लड़का पढ़ने से जी चुरा रहा है।

किग-रीडर का पहला सबक शुरू था। मैं बैठा-बैठा रट रहा था, ए ए-ए माने 'एक' ऐटी ऐट-ऐट माने 'पर' सी ए टी कैट-कैट माने बिल्ली। आर ए टी-रैट-रैट माने चूहा फिर आगे आया एम ए एन मैन-मैन माने 'आदमी' सी ए एन कैन-कैन माने 'सकना'।

"सकने" का मतलब अब जरूर समझता हूँ लेकिन पहले पहल 'सकना' शब्द समझ में न आया। 'सकना' अगर किसी के साथ होता तो शायद कुछ सहूलियत भी हो जाती लेकिन यह शब्द किसी के साथ न होकर एकदम अकेले ऐसा अजीब सा जान पड़ा कि रट लेने पर भी उसके सर पैर का कुछ पता न चला। कैट माने बिल्ली समझ में आ गई। मोटी सी बिल्ली रोज ही शाम को घर में घूमती रहती है। रैट माने चूहा भी समझने में दिक्कत न पड़ी। चूहों से भला कौन घर खाली था। मैन का भी मतलब साफ़ था। आदमी भला कौन नहीं पहचानता, लेकिन यह "सकना" आखिर कौन सी बला है? सी ए एन

कैन-कैन माने "सकना" । सी ए एन कैन-कैन माने "सकना" । कई बार रटा फिर इधर उधर की तमाम चीजें सोच डाली लेकिन 'सकना' के किस्म की कोई चीज दिमाग में न आई। बिल्ली की तस्वीर पेज के ऊपर ही छपी थी । चूहे की तस्वीर भी अगले ही पेज पर मिल गई। आदमियों की भी कई तस्वीरें किताब में थी । लेकिन 'सकना' की कोई छोटी सी भी तस्वीर कहीं दिखाई न पड़ी । इसी उधेड़बुन में मेरा रटना बन्द हो गया और मैं 'सकना' के बारे में चुपचाप सोचने लगा ।

लोग शोर गुल होते वक्त अक्सर सो नहीं पाते लेकिन हमारे मास्टर साहब का हाल इससे उल्टा था । उनके सामने जब तक हम लोग जोर जोर से रटते रहते तब तक वे मुँह फाड़ कर सोते रहते लेकिन जहाँ हम लोगों की आवाज बन्द होती कि उनकी नींद फौरन खुल जाती ।

मेरे चुप होने में देर न लगी कि मास्टर साहब चौंक कर बोले, "क्यों बे पढ़ता है कि सोता है ।"

मैं डर कर फिर अपना पाठ रटने लगा । आर ए एन रैन-रैन माने दौड़ा । एम ए एन मैन-मैन माने आदमी । लेकिन आगे फिर वही था सी ए एन कैन-कैन माने 'सकना' । मैं फिर रुक गया और उसी के बारे में सोचने लगा ।

मास्टर साहब जो जरा ऊँघने लगे थे मेरी खामोशी से एकाएक चौंके । इस बार उन्होंने डाँट डपट की जगह अपने सोंटे का इस्तेमाल करना ही ठीक समझा । एक ही सोंटे में पीठ झटला उठी । मैं रुआँसा हो गया पर करता क्या । पीठ सहला कर डरते डरते कहा, "जी एक बात समझ में नहीं आती ।"

मास्टर साहब ने डंडा संभाल कर कहा, "शुरू ही से यह हाल है । मारते-मारते कचूमर निकाल लूँगा, अगर हमसे जरा भी बहानेबाजी की । सबके माने तो सामने लिखे हैं । फिर क्या तुम्हारी समझ घास चरने चली गई ?"

मैंने बहुत डर कर कहा, "जी ! एक चीज नहीं समझा ।"

मास्टर साहब ने गरज कर पूछा, "क्या नहीं समझे ?"

मैंने कहा, "जी यह 'सकना' क्या है ?"

मास्टर साहब उठ कर खड़े हो गए और एक डंडा मेरी पीठ पर जड़ कर कहा, "सकना क्या है ? अब क्या तुझे 'सकना' पकड़ कर दिखाऊँ ? मुझसे मजाक करने चला है । अच्छा अभी दिखाता हूँ सकना ।"

फिर चलने लगा मेरे ऊपर उनका डंडा । "दिखाई पड़ा सकना" कह कर मास्टर साहब मुझे पीटते थे और मैं उनके वार बचाता था ।

कई डंडे खाने के बाद मैंने कहा, "बस मास्टर साहब ! मर जाऊंगा । छोड़ दीजिए । समझ गया 'सकना' अब कभी नहीं भूलूंगा ।"

मास्टर साहब हांफते हुए बोले, "नहीं आज तुझको 'सकना' दिखाकर ही मानूंगा ।"

मेरे रोने गिड़गिड़ाने पर मास्टर साहब ने किसी तरह मार बन्द की और उस दिन वे मुझे बिना पढ़ाए ही घर चले गए । मैं भी सिसकता हुआ घर के भीतर पहुँचा ।

घर में माँ को देखकर और जोर से रुलाई लगी । उनके पूछने पर मैंने बताया कि मास्टर साहब ने आज बहुत मारा है, क्योंकि मैं 'सकना' नहीं जानता था ।

"सकना क्या है भाई" माँ ने बड़े ताज्जुब से पूछा ।

मैंने रुँधे हुए गले से कहा, "वही सी ए एन कैन-कैन माने सकना ।"

माँ बोली, "पता नहीं अँग्रेजी में क्या गिटपिट गिटपिट कहते हो । मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता" । लेकिन इतना जान लो कि मास्टर की मार खाए बिना विद्या नहीं आती ।"

मैं कहता ही क्या चुपचाप 'सकना' का ध्यान करते-करते सो गया ।